ISSN : २२७८-०९१११२

❖ ओ३म् ❖

आश्विनमास: २०७०

अक्टुबर: २०१३

ज्योतिष्कृणोति सूनरी

आर्ष-ज्योतिः

❖संरक्षका:❖

स्वामी प्रणवानन्दसरस्वती
कै. रुद्रसेन आर्यः
श्रीश्रीकान्तवर्मा
आचार्ययज्ञवीरवर्याः
श्रीचन्द्रभूषणशास्त्री

❖परामर्शदातृमण्डलम्❖

प्रो. महावीरः
प्रो. उमावैद्यवर्याः
प्रो. शशिप्रभाकुमारः
डॉ. धर्मेन्द्रकुमारशास्त्री
डॉ. भोलाझाः
डॉ. ज्वलन्तकुमारशास्त्री

❖मुख्यसम्पादकौ❖

डॉ. धनञ्जय आर्यः
रवीन्द्रकुमारः

❖कार्यकारी सम्पादक:❖

ब्र. शिवदेवार्यः

❖अङ्कस्य निर्णायकमण्डलम्❖

डॉ. निरञ्जनमिश्राः
डॉ.शैलेशतिवारीवर्याः
डॉ. विनयविद्यालङ्कारवर्याः

❖कार्यालय❖

श्रीमद्दयानन्द आर्ष ज्योतिर्मठ गुरुकुल
दून वाटिका-२, पौंधा,
देहरादून (उत्तराखण्ड)
दूरभाष - ०९४११११०६१०४
website: www.prawanand.org

मूल्य : रु. ३०/- प्रति

विषयानुक्रमणिका

विषय		पृ.सङ्ख्या
सम्पादकीय		२
ओङ्कार माहात्म्य	-विनोद नेगी	५
योग दर्शन में चित्त की अवधारणा	-शालिनी सिडाना	७
हमारा नीम-सबका हकीम	- ले. डॉ. सत्येन्द्र कुमार आर्य	१३
गीता में प्रतिपादित कतिपय प्रासंगिक तथ्य	-अजीत कुमार	१५
महर्षिदयानन्दाभिमत ईश्वरो वैदिकपरिप्रेक्ष्ये	- वेदव्रतः	१७
अग्निहोत्रविज्ञानम्	-रवीन्द्र कुमार	२०
योगासन और उसका महत्त्व	-अजय कुमार शास्त्री	२२
व्याकरण के अध्ययन में.........	-प्रशान्त	२४
संघे शक्तिः कलौ युगे	-शिवदेव आर्य	२८
कीदृशं रामराज्यं पुरा भारते	-आचार्ययज्ञवीरः	३०
रामायण काल में अग्निहोत्र.........	-आचार्य यज्ञवीर	३१
संस्कृत-शिक्षणम्	-ब्र. सत्यकामार्यः	३३
हिन्दी गद्य की शास्त्रीय........	-प्रमा शास्त्री	३४
पर्यावरणस्य आद्यप्रवाचका वेदाः	- आचार्य सूर्या देवी चतुर्वेदा	३८
विजयदशम्यां विशिष्टं व्यंग्यम्	-डॉ. प्रशस्यमित्र शास्त्री	४४
महर्षिदयानन्देन प्रतिपादिता शिक्षा.......	- सौरभार्यः	४५
दायविभागप्रकरणम्	-शिवकुमारार्यः	४८

न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः

सम्पादक की कलम से...

गुरु और शिष्य का सम्बन्ध

सुहृद पाठकों!

शिक्षा समाज का एक ऐसा अनुपम आदर्श है कि जिसके माध्यम से किसी भी देश का समाज उन्नतिशील या अवनतिशील हो सकता है। शिक्षा और शिक्षक ये दोनों ही समाज के मूलता के आधार है। देश का सम्पूर्ण भविष्य इन्हीं शिक्षकों के हाथ से निकलता है। अगर शिक्षक वास्तविक शिक्षक है तो निश्चित ही विद्यार्थी स्वलक्ष्य तक पहुँच सकता है। इसमें अर्थात् विद्यार्थी और शिक्षक में इतरेतराश्रय है। दोनों को समान परिश्रम करना पड़ता है। अगर शिक्षक यह विचार करें कि मेरा काम मात्र पढ़ाना था और मैंने पढ़ा दिया तो इससे किसी भी विद्यार्थी का भला होना मुश्किल तो नहीं परन्तु असम्भव-सा लगता है। विद्यार्थी को बार-बार शिक्षक प्रेरित करता है, कठिनता में उसका मित्र बनता है। एक अच्छे लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विद्यार्थी के सपनों का साधक बनता है परन्तु आज शिक्षक के इस एकपक्ष से कार्य चलने वाला नहीं है। विद्यार्थी को भी शिक्षक से द्विगुणित परिश्रम करना पडेगा। शिक्षक द्वारा प्रदर्शित उन्नतिसाधन मार्ग पर अहर्निश प्रयत्न करना होगा। अपने आपको परिश्रम में लगाना पडेगा। किसी नीतिकार ने उचित ही कहा है कि- **सुखार्थिनः कुतो विद्या विद्यार्थिनः कुतो सुखम्। सुखार्थी वा त्यजेद् विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम्।।** अर्थात् सुख की इच्छा करने वाले विद्यार्थी को विद्या की प्राप्ति नहीं हो सकती है और विद्यार्थी अगर बनना है तो सुख को सर्वदा छोड़ना पडेगा। सुखार्थी विद्यार्थी विद्या प्राप्त ही नहीं कर सकता है। इसलिए विद्यार्थी को सुख छोडना पडेगा। इसीलिए मेरा मानना है कि गुरु और शिष्य इतरेतराश्रय है। आधुनिक शिक्षा पद्धति का यह एक अत्यन्त महान् दुर्गुण है कि दोनों में आपसी तारतम्यता का अभाव है। जिसके कारण विद्यार्थी अध्यापक के और अध्यापक विद्यार्थी के प्रति विद्या के आदान-प्रदान का सम्प्रेषण बाधित हो रहा है। हमारी प्राचीन परम्परा इसके विपरीत पारस्परिक दृढ़ विद्यासूत्र से बंधी थी। जिसमें एक अच्छे मानव के निर्माण के साथ-साथ एक अच्छे मनीषी की भी उत्पत्ति होती थी। यजुर्वेद में कहा है कि - **'देवती बृहस्पति धारया वसूनि। ऋतस्य त्वा देवहतिः पाशेन प्रतिमुञ्चामि धर्मा मनुषः।** (यजु. ६/८) अर्थात् आचार्य शिक्षक को विद्यार्थी को परमेश्वर से लेकर तृणपर्यन्त पदार्थो का ज्ञान कराना चाहिए, जिससे वे विद्यार्थी मूर्खता के पास से मुक्त हो सकें। वेद का यह मन्त्र हमें शिक्षा देता है कि बालक

जन्म से तो अविज्ञ है, अबोध है। उसे हमें अज्ञानता से मुक्त विद्याज्योति की ओर ले जाना है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि शिक्षक कही यह न माने कि विद्यार्थी को बिना अध्ययन कराये ही सब कुछ आ जायेगा। अगर उसे सब कुछ आता तो शायद वह शिक्षक के पास पढने न आता। अपना अमूल्य समय एक शिक्षक के पास व्यर्थ में न बिताता। इससे यह तो स्पष्ट सिद्ध है कि इस विषय में शिक्ष की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जब शिक्षक उक्त मन्त्र के अनुसार अपना आचरण व्यवहार विद्यार्थी के प्रति विद्यादान में करेगा तो निश्चित ही एक अनुपम गुरु का कुल तैयार होगा।

विद्यार्थी को सदा याद रखना चाहिए कि **'विद्या ददाति विनयम्'** (हितोपदेश) अर्थात् विद्या विनम्रता देती है। हमारे ऋषि-महर्षियों ने इस सिद्धान्त की व्याख्या

निश्चित ही अत्यन्त वैज्ञानिक रूप से की है। मेरा मानना ऐसा है कि जब जब विद्यार्थी में जितनी-जितनी विद्या जिस-जिस स्वरूप में प्रविष्ट होती रहेगी, विद्यार्थी उतना ही विनम्र होता चला जायेगा। मेरा अनुभव है कि जो विद्यार्थी जितना विद्याग्राही होता है। वह उतना ही विनम्र भी होता है। उसकी विनम्रता ही विद्या का आभाव है। इसके साथ-साथ लोक में ऐसा देखने को मिलता है कि जो व्यक्ति वास्तव में जितना विद्यासम्पन्न होता है, वह उसकी विद्या से भरा होता।

विद्या पढ के विनम्रता न आये, सरलता न आये। ऐसे व्यक्ति की विद्या फलवती हो तो इसमें नितान्त संदेह है? विद्वत्ता से परिपूर्ण इन महापुरुषों की विद्या भी असामान्य थी। कई उदाहरण तो ऐसे भी प्राप्त होते है कि जब शिष्य विद्या में गुरु से आगे पहुँच गये थे परन्तु ऐसे विद्यार्थियों की विनम्रता का लक्षण कभी समाप्त नहीं हुआ है। इसके विपरीत उनके गुरुजनों का भी स्नेह उन्हें उतना ही मिलता गया। गुरु ने शिष्य की अधिक विद्या से कभी ईर्ष्या नहीं की। वर्तमान में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते है कि अधिक विद्या वाला विद्यार्थी गुरु का तिरस्कार करता है, अनादर करता है और गुरु उस विद्यार्थी से द्रोह करता है। ये दोनों ही अमान्य है, असभ्य है। ऐसे समय में अगर विद्यार्थी गुरु के प्रति और गुरु विद्यार्थी के प्रति अपने आत्मिक विद्या सम्बन्ध को त्याग देते हैं तो निश्चित ही इसकी हानि दोनों को उठानी पड़ती है और इससे सामाजिक कल्याण भी प्रतिबाधित हो जाता है। ऐसे में जहाँ दोनों ने समाज की उन्नति के लिए प्रयास किया था, वहीं यह प्रयास अवनति के लिए सिद्ध हुआ। इसीलिए गीता में बहुत सुन्दर कहा है कि **परस्परं भावयन्तः श्रेय पस्वाप्स्यथ** अर्थात् जब तक हम एक-दुसरे की भवना से अनजान होकर एक-दुसरे के सहयोगी नहीं बनेंगे तो हमारी परम उन्नति नहीं हो पायेगी। उन्नति के लिए दोनों को ही प्रयास करना पडेगा। ऋग्वेद का संगठन सूक्त इन्हीं भावों की शिक्षा हमें देता है। **'सङ्गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्'** अर्थात् अगर हम उन्नति चाहते है तो हमें अपने मानसिक स्तर को एक सूत्र में पिरोते हुए साथ चलना पडेगा। जब हम साथ-साथ आगे बढेंगे और एक स्वर में स्वर मिलाकर बोलेंगे तो निश्चित ही हमारा कल्याण सम्भव है। अगर हमारी गति और हमारा स्वर भिन्न हो गया तो समझो कि उन्नति वहीं रुक गयी। जब गुरु और शिष्य का सम्बन्ध इतना प्रगाढ़ होगा कि गुरु ने जितनी गति और परिपक्वता विद्या प्राप्ति में की उतनी ही यदि गति प्राप्त करने के लिए यदि शिष्य भी उद्यत हो जाये तो समझो कि अब विकास को कोई नहीं रोक सकता है।

मनुस्मृति में कहा है कि- **'अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः। चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम्'** अर्थात् जो विद्यार्थी विनम्र होता है। नित्य प्रति अपने पूर्वज अर्थात् ज्येष्ठों का सम्मान करता है, तो उसकी आयु, विद्या, यश और बल निरन्तर बढ़ता है। क्योंकि यदि विद्यार्थी विनय और व्यवहार से परिपूर्ण होगा तो सभी उसके जीने की कामना करेंगे, जिससे उसको अत्यधिक पढाने का प्रयास करेंगे। सर्वत्र गुरुजन उसकी प्रशंसा करेंगे तथा उसकी विद्या और विनम्रता से सभी प्रभावित होगे। जिससे उसका यश भी बढेगा जहाँ तक गुरुजन उसकी प्रशंसा करेंगे तथा जहाँ तक उसकी विद्या और विनम्रता का यश फैलेगा तो समझो कि वहाँ तक उसका अखण्ड बल बढता चला जायेगा। अगर ऐसे विद्याविनयसम्पन्न विद्यार्थी को कोई समस्या हो जाये तो जहाँ तक लोग उसे जानते है, वे सभी उसकी सहायतार्थ उपस्थित होंगे। ऐसा मैने साक्षात् देखा है। इससे बढकर और अधिक विद्यार्थी की उन्नति क्या होगी? रघुवंश में महाकवि कालिदास ने कहा है कि-**'प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः'** अर्थात् यदि हमने पूजनीय, आदरणीय, व्यक्ति का सम्मान नहीं किया तो निश्चित ही हमारा कल्याण, हमारी उन्नति नहीं हो सकेगी। इसीलिए सम्मान योग्य व्यक्ति का सम्मान

तो होना ही चाहिए।

निरुक्तकार यास्क ने शिक्षकों को उनके कर्तव्य को व्युत्पत्ति के माध्यम से बताया है। आचार्य शब्द की व्युत्पत्ति के सन्दर्भ में वे कहते है कि- **आचार्यः कस्मात्? आचार्यः आचारं ग्राहयति आचिनोति** अर्थात् जो आचार-व्यवहार की शिक्षा देता हो, शास्त्रों को पढ़ाता हो और विद्यार्थी की बुद्धि का चयन करता हो, वह आचार्य कहलाता है। इस कथन से स्पष्ट है कि-आचार-व्यवहार की शिक्षा देना आचार्य का ही काम है। आज शिक्षक विद्यार्थी को क्रोधित होकर बोलता है कि यही सीखा है तुमने? यह ठीक है कि व्यक्ति अविद्या में आकर कुछ भी कह देता है, परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि व्यवहार की शिक्षा देना भी आपका कर्तव्य है। शास्त्रादि अर्थात् ज्ञान-विज्ञान की सही बातें सीखाना भी आपका कर्तव्य है। इसके साथ-साथ विद्यार्थी कोई कार्य कैसे करता है? उसके लिए कौन-सा मार्ग श्रेयस्कर होगा, ये शिक्षा देना भी आचार्य का ही काम है। अपने इस कर्तव्य की पूर्ति हम शिक्षक को करनी ही होगी। यहाँ यह ध्यातव्य है कि पहले अपना कर्तव्य शिक्षक को ही पूर्ण करना होगा तभी विद्यार्थी से वह आदर पा सकता है। अगर शिक्षक अपना कर्तव्य पूर्ण नहीं करता है तो उसे आदर का सपना भी नहीं देना चाहिए। विद्या के बिना आदर मुश्किल तो नहीं पर असम्भव है।

यह विषय अत्यन्त गम्भीर और सूक्ष्म है। इस पर विद्यार्थी और शिक्षक जितना अधिक विचार करेंगे। यह उतना ही लाभप्रद होता चला जायेगा। आज हम केवल अपने स्वार्थ हेतु ही कार्य करते है। शिक्षक अपने स्वार्थ के लिए विद्यार्थियों का उपयोग करता है और विद्यार्थी अपने स्वार्थ के लिए शिक्षकों का उपयोग करते है। इससे दोनों का ही कल्याण बाधित होता जा रहा है। मेरा मानना है कि-यदि शिक्षक और विद्यार्थी का सम्बन्ध ठीक रहेगा तो निश्चित ही इस देश का विकास होगा।

सम्मानित पाठकों!

आज देश भयानक समय से गुजर रहा है। आज हमारे विद्यार्थियों में, हमारी सन्तानों में राष्ट्रियता समाप्त होती जा रही है। आज विद्यार्थी आलस्य और प्रमाद से परिपूर्ण हो रहा है। आज का युग भ्रष्टाचार से पतित हो गया है। आचार-व्यवहार उसके लिए कोई महत्त्वपूर्ण तथ्य नहीं है। क्या खाना है? क्या करना है? यह उसके लिए कोई महत्त्व नहीं रखता है? अपनी संस्कृति और सभ्यता क्या है? इसका उसको कोई भी ज्ञान नहीं है? पाश्चात्य परम्परा ने हमारे युवाओं को ऐसा घेर लिया है कि उसके जाल से निकलना मुश्किल-सा हो रहा है। राजनीति में योग्य नेतृत्व का अभाव है। इससे देश पतन की ओर बढ़ रहा है। मेरा मानना है कि अगर विद्यार्थियों को निर्माण काल में योग्य शिक्षक और योग्य शिक्षकों को योग्य विद्यार्थी मिल जाये तो निश्चित ही हमारा देश उन्नति करेगा। गुरु और शिष्य का पारस्परिक सम्बन्ध दृढ हो जाये तो योग्य नागरिकों का निर्माण सम्भव है। ये योग्य नागरिक ही देश की परस्थितियों को बदलने में सक्षम है। इन योग्य नागरिकों का निर्माण शिक्षक ही कर सकते है परन्तु ये तब सम्भव है जब गुरु और शिष्य का आपसी सम्बन्ध सुदृढ एवं अनुकूल हो। मैने आप सब सुधी पाठकों के समक्ष अपने विचार प्रस्तुत किये है। इनसे सहमत होना आवश्यक नहीं है पुनरपि मेरी भावनाओं पर विचार करते हुए मुझे अपने मन्तव्य से अवश्य अवगत करायेंगे। मैं आपके विचारों की प्रतीक्षा में......

रवीन्द्र कुमार

गुरुकुल पौन्धा, देहरादून

९९९७३०४८८६

प्रकाशित लेखों से सम्पादक का सहमत होना अनिवार्य नहीं है। किसी भी वाद के लिए न्यायक्षेत्र देहरादून ही होगा।

ओङ्कार माहात्म्य

विनोद नेगी....✍

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदꣳसंग्रहेण ब्रवीत्योमित्येतत्।।[१]

समस्त वेदों द्वारा एक रूप से जिस पद का प्रतिपादन किया जाता है, समस्त साधकों द्वारा जिस परमपद की प्राप्ति के लिए दिन-रात कठोर तपस्या की जाती है, जिसकी प्राप्ति की इच्छा से मुमुक्षुजन ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वही पद ओ३म् है। ओ३म् मात्र एक अक्षर नहीं, अपितु स्वयं में एक विराट् ब्रह्म के स्वरूप को लिए हुए है। ओ३म् परमपिता परमेश्वर का एक दिव्य प्रतीक है, यह अक्षर स्वयं में अनेक दिव्य शक्तियों को समेटे हुए है, जिसके स्मरण मात्र से ही मानव कल्याण पथ पर अग्रसर हो जाता है। ओ३म् परम पवित्र, प्रकाश-पुंज, तृप्तिकारक तथा निश्चल परब्रह्म का एक सर्वोत्तम नाम है। ओ३म् स्वयं में अनन्त है। ओ३म् एक ऐसा दिव्य अक्षर है, जिसमें परमपिता परमेश्वर के अनेक रूपों व गुणों को अभिव्यक्त करने का अतुलनीय सामर्थ्य है। ओ३म् परम सत्य का एक आदर्श प्रतीक है। प्रत्येक धार्मिक कार्य को प्रारम्भ करने से पूर्व ओ३म् शब्द का प्रयोग परम कल्याणकारी माना जाता है। समस्त यज्ञादि कार्मों में प्रयुक्त मंत्रों के पूर्व में ओ३म् को जोड़ने से उस मंत्र की शक्ति बढ़ जाती है। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड इस परम शक्तिशाली ओङ्कार से ही उत्पन्न हुआ है और अन्तकाल में यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड इसी ओङ्कार में ही विलीन हो जायेगा।

ओ३म् क्रमशः अ, उ तथा म् इन तीन अक्षरों से निर्मित है। ओ३म् के इन तीन अक्षरों से क्रमशः ईश्वर, जीव, प्रकृति का बोध होता है। यह तीन अक्षर उत्पत्ति, विस्तार व प्रलय का बोध कराते है।

ओ३म् शब्द **'आप्लृ व्याप्तौ'** तथा **'अव् रक्षणे'** दोनों धातुओं से सिद्ध होता है। आप्लृ धातु से निर्मित ओ३म् का अर्थ सर्वव्यापी होता है तथा अव् धातु से निर्मित ओ३म् का अर्थ रक्षणार्थ प्रयुक्त होता है।

महर्षि पाणिनि जी की **'अष्टाध्यायी'** सूत्र **'आद्गुणः'** के अनुसार ओ३म् शब्द में अ तथा उ गुण सन्धि के फलस्वरूप संयुक्त होकर ओ बनाता है। यहाँ वृद्धि सन्धि नहीं होती। ओ तथा म् के मध्य में ३ का अंक प्लुत स्वर अर्थात् ३ मात्रा का सूचक है।

यह ओङ्कार ब्रह्म तथा आत्मा का अक्षर रूप स्वरूप है।[२] महर्षि पतंजलि द्वारा रचित **'योगदर्शन'** में ओङ्कार के लिए प्रणव शब्द का प्रयोग किया गया है-

'तस्य वाचकप्रणवः'[३]

अर्थात् ईश्वर का वाचक प्रणव (ओङ्कार) है। यह शब्दरूप एकाक्षर प्रणव ही ओङ्कार है, प्रणव शब्द का अर्थ है- **'प्रकर्षेण नूयते स्तूयते अनेन इति नौति, स्तौति इति वा प्रणवः'** प्रणव शब्द की उत्पत्ति 'नु' धातु से हुई है, जिसका अर्थ होता है - चिल्लाना अर्थात् ध्वनि के साथ स्तुति करना। श्रीमद् भगवद्गीता में भी ओ३म शब्द के लिए प्रणव का प्रयोग किया गया है-

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु।।[४]

अर्थात् जल में मैं रस हूँ। वैसे ही चन्द्रमा और सूर्य में मैं प्रकाश हूँ, समस्त वेदों में प्रणव (ओङ्कार) हूँ अर्थात् उस ओङ्काररूप परमात्मा मुझमें सब वेद पिरोये हुए है।

इसी प्रकार माण्डूक्योपनिषद् में भी ओङ्कार के लिए प्रणव शब्द दृष्टिगोचर होता है।

युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते कथित्।।[५]

इस प्रकार माण्डूक्योपनिषद् में अनेक स्थलों पर प्रणव शब्द का प्रयोग देखने को मिलता है- **प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म[६], सर्वस्य प्रणवो[७], प्रणव हीयरम्[८]**

अतः ओ३म् स्वयं में अनेक विशिष्टताओं के लिए है। ओ३म् का उच्चारण मात्र ही साधक को समस्त पापों से निर्मुक्त करने की क्षमता रखता है। ओ३म् का निरन्तर ध्यान करने पर साधक को अपने इष्ट फल की प्राप्ति अवश्य होती है। ओ३म् का विधिवत् उच्चारण करने पर कोई भी पाप कर्म साधक को दूषित नहीं कर पाता ।

माण्डूक्योपनिषद् में ओ३म् को सब कुछ माना गया है–'**ओमित्येतदक्षरमिदꣳसर्वम्.......**'[९]

इसी सन्दर्भ में प्रश्नोपनिषद् में उल्लेख मिलता है–

'यः पुनरेतन्त्रिमात्रेणेत्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषम-भिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्तना विनिर्मुक्तः।[१०]

अर्थात् जो पुरुष इस पवित्र अविनाशी त्रिमात्रिक ओङ्कार का ध्यान करता है, वह ऐसे सूर्यलोक को प्राप्त करता है, जो तेज से परिपूर्ण है, उसका सम्पूर्ण जीवन पापकर्म से वैसे ही विर्मुक्त हो जाता है, जिसप्रकार सर्प के शरीर से केंचुली।

यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड सदैव ओ३म् नामक पवित्र ध्वनि से गुञ्जायमान रहता है। हिन्दू धर्मशास्त्रों के अनुसार ओङ्कार ध्वनि सृष्टि के प्रारम्भ से ही समस्त लोकों में गुञ्जायमान थी, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति इस परम शक्तिशाली दिव्य ओ३म् से ही हुई है और अन्तकाल में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड इसी दिव्य अक्षर में विलीन हो जायेगा।

मनुस्मृति में ओङ्कार तथा गायत्री मन्त्र को ब्रह्म का मुख अर्थात् ब्रह्मा को प्राप्त करने का द्वार बताया गया है–

ओङ्कारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्यया:।
त्रिपदा चैव गायत्री विज्ञेयं ब्राह्मणो मुखम्।।[११]

श्रुतियों में ओ३म् को परब्रह्म का स्वरूप बताया गया है। ओ३म् के व्यापक प्रभाव के दर्शन सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं। वेद, उपवेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, गीता जैसे अनेक पवित्र धर्म ग्रन्थों में ओ३म् का व्यापक वर्णन किया गया है।

श्रीमद् भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने इस प्रकार ओङ्कार माहात्म्य का वर्णन किया है–

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्मध्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।[१२]

जो पुरुष ओ३म् इस अक्षर रूप ब्रह्म का चिन्तन करता हुआ शरीर का त्याग कर देता है, वह पुरुष परमगति को प्राप्त होता है।

ओ३म् चारों पुरुषार्थो का प्रदायक है। ओङ्कार का ध्यान मात्र करने पर मनुष्य अपने अभीष्ट फल को प्राप्त करने का अपूर्व सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। यजुर्वेद में उल्लेख मिलता है कि मानव की रक्षा करने के कारण ईश्वर का नाम ओ३म् है– '**ओ३म् खम्ब्रह्म**'[१३]

इस प्रकार ओ३म् हम सबकी आत्मा व प्राणशक्ति का नाम है। ओङ्कार की स्तुति, प्रार्थना और उपासना मानव जीवन के लिए सभी प्रकार से कल्याणकारी है।

ओ३म् को महत्व व चमत्कारिक प्रभाव के दर्शन केवल धर्मशास्त्रों में ही नहीं अपितु वैज्ञानिक दृष्टि से भी ओ३म् का हमारे शरीर पर प्रभाव पडता है। आधुनिक समाज भी ओ३म् के माहात्म्य से परिचित है। ओङ्कार के उच्चारण से शरीर पर अनेक सकारात्मक प्रभाव पडते हैं। ओङ्कार का निरन्तर जाप व मनन कर मानव अनेक प्रकार की व्याधियों से निर्मुक्त रह सकता है।

यह एकाक्षर मन्त्र मानव की बुद्धि व शरीर में अनेक सकारात्मक परिवर्तन लाता है। ओङ्कार उच्चारण से फेफड़ों में, हृदय में स्वस्थता आती है। प्रातःकाल प्रतिदिन ओङ्कार का जाप करने पर हमारी एकाग्रता में वृद्धि तो होती है साथ ही साथ हमारा रक्तसञ्चार भी सुचारु रूप से नियन्त्रित रहता है। हमारा मस्तिष्क व हृदय सकारात्मक ऊर्जा से व्याप्त रहता है। मस्तिष्क तनाव रहित हो जाता है। इसका जाप शारीरिक ही नहीं अपितु मानसिक रोगों को भी दूर करता है। इस प्रकार ओङ्कार का उच्चारण करने पर ऐसा मंगलकारी, पवित्र वातावरण निर्मित होता है, जो चारों तरफ सकारात्मक ऊर्जा को फैलाता है।

शेष पृष्ठ १४ पर...

;kx n'kZu esa fpÙk dh vo/kkj.kk

❑ 'kkfyuh flMkuk

योग दर्शन को समान तन्त्र दर्शन माना है। सम्पूर्ण सृष्टि प्रक्रिया और मान्यताएं योग दर्शन में स्वीकार की गई है। योग तीन प्रमाणों को स्वीकार करते हैं। योग ने सांख्य के २५ तत्त्वों को यथावत् स्वीकार किया है किन्तु योग का मानना है कि सृष्टि प्रक्रिया में प्रकृति के तीनों गुणों में विलोभ उत्पन्न करने के लिए शक्ति सम्पन्न ईश्वर की आवश्यकता है। अतः योग ने २६वाँ तत्त्व 'ईश्वर' को स्वीकार किया है। योग का चरम लक्ष्य कैवल्य है, अर्थात् दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति।

योग दर्शन में कैवल्य (मोक्ष) की प्राप्ति के लिए चित्तवृत्ति के निरोध के द्वारा मन को समाधि अवस्था तक विकसित करना होता है। योग दर्शन के अष्टांग योग[१] यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का पूर्ण श्रद्धा से पालन करते हुए मिथ्याज्ञान की समाप्ति के बाद समाधिस्थ होकर तत्त्वतः ईश्वर, पुरुष (जीव) तथा प्रकृति आदि का ज्ञान प्राप्त कर व्यक्ति कैवल्य प्राप्त करता है। आत्म शुद्धि के लिए योग (चित्त वृत्ति निरोध) को ही सर्वोत्तम साधन माना गया है। इससे शरीर और मन की शुद्धि हो जाती है। अर्थात् शारीरिक और मानसिक वृत्तियों का दमन करते हुए क्रमशः शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार पर विजय प्राप्त कर विवेकज्ञान (शरीर, मन, इन्द्रिय आदि से पुरुष (आत्मा) भिन्न है ऐसा ज्ञान) और असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति होती है।[२]

१. **fpÙk dk Lo:i** : चित्त से अभिप्राय अन्तःकरण (मन, बुद्धि और अहंकार) से है। चित्त प्रकृति का प्रथम विकार है।[३] 'चित्त' त्रिगुणात्मक है, अतएव परिणामी है। उसमें रजोगुण है, जिसका सदा क्रियाशील होना स्वभाव है। अतएव किसी भी अवस्था में 'चित्त' रहे, उसमें क्रिया होती रहेगी। चित्त की दो मुख्य अवस्थाएँ होती हैं– एक तो 'कार्यावस्था' जिसमें वृत्तियों के द्वारा सदैव कोई न कोई क्रिया होती ही रहती है। इसे हम 'संसारावस्था' भी कह सकते हैं। योगशास्त्र में इसे 'व्युत्थान' अवस्था कहा गया है। दूसरी वह अवस्था है जिसमें वृत्तियाँ चित्त में ही निरुद्ध हो गयी है। इस अवस्था में स्थूल दृष्टि से कोई भी क्रिया नहीं दिखाई पड़ती है। इसे 'निरोध' अवस्था कहते हैं।[४]

चित्त अपने आप में पूर्व जन्मों के संस्कारों को समाहित रखता है। उचित वातावरण और प्रेरणा पाकर संस्कार जाग्रत हो जाते हैं। चित्त में उन पूर्व जन्मों की प्रवृत्तियाँ संस्कार रूप में निहित रहती हैं।[५] संस्कार वे बीज हैं जिनके कारण पूर्व अनुभूत कोई प्रवृत्ति या आदत या कोई आनन्द चित्त में इस प्रकार रहती है कि कभी भी अनायास स्वतः प्रकट हो सकती है। चेतन अनुभवों का संघटित रूप ही चित्त है। चित्त अपने चारों ओर की स्थिति को जानने और प्रभावित करने में समर्थ होता है। उसकी क्रिया ज्ञात हो सकती है और अज्ञात भी ज्ञात क्रियाओं में संवेदनाओं की सभी प्रक्रियाओं तथा ज्ञात भावनाओं का समावेश होता है। अज्ञात प्रक्रियाएँ मन के निम्नस्तर पर होती है और वे अवचेतन होती हैं।६

चित्त में चेष्टा भी विद्यमान रहती है जिसके कारण इन्द्रियाँ अपने विषय भूत बाह्य पदार्थों के सम्पर्क में आ पाती है। चित्त में उसकी प्रवृत्तियों के रूप में पुण्य और पाप रहते हैं, जो उसकी वृत्तियों को परिचालित करते हैं, और उनके अनुसार सुख–दुःख का भोग करवाते हैं।[७] चित्त कभी अच्छी दशा में (मुक्ति) और कभी बुरी दशा में (संसार) ले जाती है। व्यास भाष्य के अनुसार वह एक ऐसी नदी है जो पाप और पुण्य (अच्छाई) दोनों ओर बहती है।[८]

चित्त जड़ है और पुरुष चेतन है। पुरुष चित्त से भिन्न है किन्तु चित्त का स्वामी है। पुरुष चित्त को

प्रेरित करता है और मन इन्द्रियों से सम्बद्ध होकर बाह्य वस्तु से सम्बन्ध स्थापित करता है। निरोध दशा में बाह्य वस्तु से सम्पर्क न होने से चित्त की वृत्तियाँ अन्तर्मुखी रहती हैं, और उनका प्रवाह आत्मा की ओर होता है। पुरुष के असंग और शुद्धस्वरूप में स्थिति प्राप्त करने के लिए निरोधावस्था वाला 'चित्त' ही सक्षम है। पुरुष के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान भी 'चित्त' के ही अधीन है। प्रकृति अनन्त है और प्रकृति का सर्वोत्कृष्ट परिणाम चित्त है। अतः वह भी अनन्त शक्तियों वाला है। प्राणियों के भिन्न स्तरों में जन्म लेने का कारण भी चित्त ही है। तीनों गुणों के तारतम्य से देवता, राक्षस एवं विविध चित्तवृत्ति वाले प्राणी उत्पन्न होते हैं।

चित्त जड़ है, किन्तु चित्त से हर्ष, शोक, दुःख का भोग जीव (पुरुष) करता है।[९] चित्त को जीवात्मा का साधन मानते हुए व्यास जी ने चित्त में आत्मा–बुद्धि करना अविद्या कहा है। उनका कहना है जैसे मानो अचेतन शरीर में आत्म बुद्धि करना अविद्या है। वैसे ही जीवात्मा के साधन चित्त में आत्मा बुद्धि करना भी अविद्या है।[१०] चित्त की विवेक–ख्याति प्राप्त होने तक सत्ता रहती है। अर्थात् जीवात्मा के साथ चित्त का सम्पर्क मोक्ष में नहीं रहता। वस्तुतः यह सब विचित्र परिणाम (संसारस्थ जीवों की दशाये) चित्त के ही है, पुरुष तो अविद्या के न रहने पर शुद्ध स्वरूप है और वह चित्त के धर्मों से सर्वथा असम्बद्ध है।[११]

चित्त परिणामी है, पुरुष अपरिणामी है। चित्त ग्रहण करने का साधन है और जीवात्मा उसका स्वामी है।[१२] चित्त परार्थ (जीवात्मा) के भोगापवर्ग के लिए इन्द्रियों के साथ संयुक्त होकर कार्य करता है।[१३] योगदर्शनकार एवं भाष्यकार व्यास ने चित्त को पुरुष (जीवात्मा) से पृथक् माना है। चित्त जड़ है एवं जीवात्मा चेतन, अपरिणामी एवं त्रिगुण रहित है। जैसे नेत्रादि इन्द्रियों दृश्य होने से स्वप्रकाशक नहीं है वैसे ही चित्त भी स्वप्रकाशक नहीं है। यह जीवात्मा के सम्पर्क से ही ज्ञान का साधन बनता है अन्यथा नहीं। त्रिगुणात्मक चित्त प्रख्या–प्रवृत्ति–स्थितिशील रूप वाला तीन प्रकार का है।[१४] इनमें 'प्रख्या' रूप चित्त सत्त्वगुण वाला होता है। इसमें चित्त दृष्ट व श्रुत पदार्थों पर विचार करता है। 'प्रवृत्ति' रूप चित्त चंचल स्वभाव वाला होता है। इसमें सत्त्व के साथ रजोगुण की मात्रा अधिक होती है। तब चित्त धर्म और वैराग्य का चिन्तन करता है। 'स्थितिशील' चित्त तमोगुण प्रधान होता है जो अधर्म, अज्ञान और विषयासक्ति का चिन्तन करता है।[१५]

२. **fpÙk dh ofÙk;k** : चित्त (बुद्धि रूप में जिसके अन्तर्गत अहंकार और मन भी आ जाते हैं) प्रकृति का प्रथम विकृत तत्त्व है अर्थात् चित्त प्रकृति का प्रथम विकार है, जिसमें रजो गुण व तमो गुण के ऊपर सत्त्वगुण की प्रधानता की प्रबलता रहती है।[१६] चित्त के विषयाकार परिणाम को वृत्ति कहते हैं। विदित हो कि चित्त अचेतन होते हुए भी अत्यन्त सूक्ष्म है और पुरुष के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है।[१७] जब चित्त का किसी विषय के साथ सम्पर्क होता है तब वह उसी विषय का आकार धारण कर लेता है। इस आकार को ही वृत्ति कहते हैं।[१८] इन्हीं विषयों अनुरूप चित्त–विकारों के द्वारा आत्मा को विषयों का ज्ञान होता है।[१९] अर्थात् पुरुष चैतन्य के प्रकाश से यह चित्त वृत्ति प्रकाशित होती है। तब हमें उस विषय का ज्ञान होता है। इन अनित्य वृत्तियों का प्रवाह चित्त में चलता रहता है। वृत्तियाँ क्षीण होकर चित्त में अपने संस्कारों का आधान करती है तथा ये संस्कार परिपक्व होकर पुनः वृत्तियों का रूप धारण लेते हैं। इस प्रकार वृत्तियों से संस्कारों की एवं संस्कारों से वृत्तियों की उत्पत्ति का चक्र चलता रहता है।

चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं।[२०] चित्त एक महासमुद्र है, जिसमें वृत्ति रूपी तरंगे उठती एवं लीन होती रहती है। योग दर्शन में कैवल्य के लिए चित्तवृत्ति के निरोध के द्वारा चित्त को सविकल्प अथवा निर्विकल्प समाधि तक विकसित करना होता है। चित्त निरोधावस्था में वृत्ति रहित हो जाता है।

जब तक चित्त की वृत्तियाँ व्युत्थान अवस्था में उठती रहती है, तब तक पुरुष वृत्तियों से अपने को एक समझता रहता है। चित्त सन्निधि मात्रा से (चुम्बक के समान) पुरुष का उपकार करता है। जड़ चित्त पर पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तो चित्त भी अपने को चेतन के समान समझने लगता है, और चेतन की तरह कार्य करने लगता है, यही चित्त की वृत्ति है।[२१] इस चित्त की वृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं– प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति।[२२] चित्त के व्यापार को वृत्ति कहते हैं और चित्त प्रकृति जन्य होने से त्रिगुणात्मक है। इन पाँच वृत्तियों के अन्तर्गत चित्त की सभी अनन्त वृत्तियाँ समा जाती है। चित्त की बाह्य वृत्ति और अन्तर्वृत्ति होने से दो प्रमुख दशाएँ होती है। इन्हें मुख्यतः दो भागों में बांटा गया है– क्लिष्ट वृत्तियाँ और अक्लिष्ट वृत्तियाँ।[२३]

(i) fDy"V ,o vfDy"V o`fÙk;k : क्लेश (आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक) की हेतु राजस तथा तामस वृत्ति को क्लिष्ट वृत्ति कहते हैं। क्लिष्ट वृत्ति से पुरुष राग–द्वेषादि में लगा शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्त होता है। जिस वृत्ति में केवल आत्मख्याति अर्थात् सांसारिक विषयों से विरक्तिपूर्वक ईश्वर का चिन्तन होता है, प्रकृति–पुरुष विवेक तथा जो वृत्ति रजोगुण व तमोगुण के संसर्ग से रहित हो, वह अक्लिष्टवृत्ति कहलाती है।[२४]

अविद्या, आस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश ये पाँच क्लेश[२५] जिन वृत्तियों की उत्पत्ति के कारण होते हैं, वे क्लिष्ट वृत्तियाँ कहलाती हैं। क्योंकि इन क्लेशों के कारण चित्त वृत्तियों का प्रवाह विषयों की ओर होने से दुःख को पैदा करता है। अर्थात् चित्त वृत्तियों द्वारा हमें आन्तरिक अनुभव होता है। जब चित्त वृत्तियाँ संसार चक्र में खींच कर ले जाती हुई वासनाओं और उनकी पूर्तियों में लग जाती हैं। तो उन्हें क्लिष्ट (क्लेश की ओर ले जाने वाली या क्लेशयुक्त) कहा जाता है। जब वे हमें मुक्ति की ओर ले जाती हैं तो उन्हें अक्लिष्ट कहा जाता है।[२६]

योगी लोग अक्लिष्ट वृत्तियों के द्वारा क्लिष्ट वृत्तियों का निरोध करते हैं। वृत्ति निरोध का अर्थ वृत्तियों का अभाव अर्थात् नाश करना नहीं है, क्योंकि योग सत्कार्यवादी है, क्योंकि योग सत्कार्यवादी है। जिनके अनुसार किसी भी सत् पदार्थ का नाश नहीं होता। 'निरोध' शब्द अभिभव एवं तिरोभाव के अर्थ में आया है।[२७] अक्लिष्ट वृत्तियाँ चित्त में विवेकख्याति का उदय करती है। विवेकख्याति की प्राप्ति के अनन्तर योगी को 'कैवल्य' पद प्राप्त होता है। अतः यह चित्त का ही सामर्थ्य है कि वह विवेकख्याति उत्पन्न करके साधक को कैवल्य प्राप्त करायें।[२८] वस्तुतः चित्त की निवृत्ति ही मोक्ष है, ऐसा व्यास का मानना है[२९] चित्त का व्यापार मुक्ति (मोक्ष) पर्यन्त ही है।

योग के अनुसार तेरह करण हैं– बुद्धि, अहंकार तथा ग्यारह इन्द्रियाँ। 'वृत्ति' करणों को ज्ञानात्मक परिणाम है। बुद्धि की निश्चयात्मिका वृत्ति, अहंकार की अभिमानात्मिका वृत्ति, मन की संकल्प–विकल्पात्मिका वृत्ति तथा इन्द्रियों की आलोचनात्मिका वृत्ति कहीं गई है। करणों की ये विशिष्ट वृत्तियाँ प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति नाम की पाँच सामान्य वृत्तियों से युक्त हैं।[३०]

अतः स्पष्ट हुआ है कि जो वृत्तियाँ मनुष्य को अज्ञान, अधर्म अनीश्वरता की ओर ले जाती है, वे क्लिष्ट वृत्तियाँ हैं और जो ज्ञान, धर्म और ईश्वर की ओर ले जाती है, वे अक्लिष्ट वृत्तियाँ हैं।[३१] अर्थात् प्रमाण आदि वृत्तियाँ 'क्लिष्ट' एवं 'अक्लिष्ट' के भेद से दो प्रकार की हैं। कर्माशय की संग्राहक, अविद्या आदि क्लेश के कारण उत्पन्न होने से 'क्लिष्ट' कही जाती है। दूसरी तरफ कर्माशय को उत्पन्न न करने वाली अर्थात् गुणाधिकार की विरोधिनी वृत्तियाँ विवेकज्ञान पूर्वक होने से, 'अक्लिष्ट' कही जाती हैं। सर्वप्रथम अक्लिष्ट वृत्तियों के द्वारा क्लिष्ट वृत्तियों को अभिभूत किया जाता है। तदनन्तर अक्लिष्ट वृत्तियों का निरोध करना पड़ता है। क्लिष्ट वृत्ति की

अपेक्षा अक्लिष्ट वृत्ति श्रेष्ठ है, फिर भी पुरुष के स्वस्वरूपावस्थान रूप कैवल्य के लिए अक्लिष्ट वृत्ति का भी निरोध कर चित्त को वृत्ति शून्य बनाना आवश्यक है।[३२]

(ii) çek.k ofÙk : योग दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन प्रमाण स्वीकार किए गए हैं।[३३] जब चित्त का ज्ञानेन्द्रिय के माध्यम से बाह्य वस्तु से प्रथम सम्पर्क होता है तो उस पदार्थ विषयक वृत्ति बनती है। वह पदार्थ सामान्य (समान रूप से अनेक पदार्थों में रहने वाला धर्म) तथा विशेष धर्मों (दूसरी वस्तु को उससे भिन्न रखने वाले धर्म) से युक्त रहता है। चित्त में वस्तु सम्पर्क के बाद विशेष धर्म से बनने वाली निश्चयात्मक वृत्ति 'प्रत्यक्ष' कहलाती है।[३४] अर्थात् चित्त बाहर जाकर वस्तुओं के साथ सम्पर्क में आकर विषयाकार हो जाता है। उस विषयाकार को प्राप्त जो 'चित्त वृत्ति' होती है, वही प्रत्यक्ष प्रमाण है।[३५] वस्तु के आकार को प्राप्त चित्तवृत्ति 'मैं घट/पट को जानता हूँ' द्वारा घट/पट का साक्षात्कार होता है। चक्षु आदि इन्द्रियाँ तो चित्त के आने–जाने का मार्ग अर्थात् द्वारमात्र है।

साध्य पक्ष के समान जातिवालों में रहने वाला और भिन्न जातियों से पृथक् रहने वाला जो ज्ञापक लिंग उसके ज्ञान से उत्पन्न होने वाली और अनुमेय पदार्थ के सामान्य धर्म का मुख्य रूप से ग्रहण करने वाली चित्तवृत्ति अनुमान कहलाती है।[३६]

जो प्रत्यक्ष या अनुमान से यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके दूसरे पुरुष को भी यथार्थ ही ज्ञान कराने की इच्छा करता है, वह 'आप्त पुरुष' कहलाता है। उस आप्त पुरुष के वक्तव्य सुनकर जो चित्त वृत्ति बनती है, उसे आगम या शब्द प्रमाण कहते हैं।[३७]

(iii) foi;Z; ofÙk : विपर्यय वृत्ति मिथ्याज्ञान पर आधारित है। वस्तु के मिथ्या ज्ञान को 'विपर्यय' कहते हैं। शुक्ति का शुक्ति के रूप में ज्ञान न होकर रजत के रूप में जो ज्ञान होता है, उसे विपर्यय कहते हैं।[३८] विपर्यय वृत्ति योगमार्ग के बाधक है। इसकी निवृत्ति यथार्थ ज्ञान से होती है। मिथ्याज्ञान (संशय) में डूबा व्यक्ति प्रकृति, आत्मा व परमात्मा को नहीं जान सकता।

(iv) fodYi ofÙk % चित्त की यह विकल्प वृत्ति मिथ्याज्ञान की जनक है। शब्द ज्ञान से उत्पन्न होने वाला, किन्तु वस्तु शून्य अर्थात् जिस वस्तु का ज्ञान हो उस वस्तु का अत्यन्त अभाव रहे, ऐसे ज्ञान को विकल्प कहते हैं।[३९] अर्थात् शब्द ज्ञान के प्रभाव से वस्तु के न होने पर भी जो शाब्दिक ज्ञान होता है, वह विकल्प वृत्ति कही जाती है। जैसे– आकाश–कुसुम, बन्ध्यापुत्र आदि।

(v) fuæk ofÙk % निद्रा प्रमाणादि वृत्ति की भाँति चित्त की ही वृत्ति है। निद्रा का सम्बन्ध सुषुप्ति काल से है। इस अवस्था में तमस गुण के आधिक्य से जाग्रत और स्वप्न में वृत्तियों का अभाव रहता है। निद्रा ज्ञान का अभाव नहीं है। तमोमयी निद्रा चित्त के सत्त्वादि को विषय बनाती है। चित्त की इस वृत्ति में जाग्रत अवस्था में होने पर 'मैं खूब सोया', 'मेरा मन थका हुआ है', 'मेरा मन शान्त है' इत्यादि बोध होता है। इन्द्रियजन्य ज्ञान के अभाव की प्रतीति को विषय बनाने वाली तमोगुण प्रधान चित्तवृत्ति को (निद्रा) कहते हैं।[४०]

(vi) Le`fr ofÙk : यह पहली चार वृत्तियों पर आधारित है। प्रमाणादि वृत्तियों द्वारा ज्ञात विषयों को स्मृति अपना विषय बनाती है। इसका स्वस्मृत विषय भी पुनः पुनः आलम्बन बना करता है। अनुभूत किए गए विषयों का ठीक उसी रूप में (न भूलना) स्मरण होना 'स्मृति' है।[४१] ये वृत्तियाँ कार्य उत्पन्न कर सूक्ष्म रूप से 'संस्कार' के रूप में हमारे अन्तःकरण में रहती है। समय अपने पर उद्बोधक द्वारा उद्बुद्ध होकर वृत्ति के माध्यम से स्मरणात्मक ज्ञान उत्पन्न करते हैं।

ये सभी पाँचों त्रिगुणात्मक होने से सुख, दुःख एवं मोह रूप है। सुख–दुःख और मोह की क्लेशों में व्याख्या की गई है, सुख भोग के पश्चात् जो उसकी वासनायें रहती है, वह 'राग' कहलाती है। दुःख भोग

के बाद जो क्रोधादि भावना से होती है वह 'द्वेष' कहलाती है, और मोह तो अविद्या से है। ये सभी वृत्तियाँ निरोध करने योग्य है। इनके निरोध से क्रमशः तत्त्व ज्ञान होता है और दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है तत्पश्चात् तत्त्व ज्ञान अर्थात् विवेकख्याति होने पर त्रिगुणात्मक सुख, दुःख एवं मोह के परिणाम का निरोध करने वाली अक्लिष्ट वृत्तियाँ उद्भूत होती हैं, जिनसे योगी पुरुष को त्रिगुणात्मक वृत्तियों के निरोध पर पहले सम्प्रज्ञात फिर असम्प्रज्ञात समाधि होती है। चित्त की समस्त वृत्तियाँ संसार दशा में उपयागी है किन्तु परमार्थ दशा में इनकी निवृत्ति अत्यन्त आवश्यक है। तभी परमपुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति सम्भव हो सकती है।

(३) fpÙk dh dloY; voLFkk % कैवल्य योग दर्शन का परम लक्ष्य है। कैवल्य का अर्थ है केवल (एकाकी) होने का भाव (केवल उसी का होना)। प्रकृति की संयुक्तता से अपने आप को अलग कर पुरुष का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होना ही कैवल्य है। सत्त्व, रजस तथा तमस तीनों गुणों की प्रवृत्ति पुरुष के भोग तथा अपवर्ग के लिए होती है। इसलिए भोग ओर अपवर्ग ही पुरुषार्थ कहलाता है। अतः पुरुषार्थ शून्य और पुरुषार्थ के सम्पादन से कृतकृत्य हुए गुण अपने कारण में लीन विलीन हो जाते हैं अर्थात् व्युत्थानादि समय के संस्कार दग्धबीज के भाँति होकर चित्त में लीन हो जाते हैं, चित्त अहंकार में, अहंकार महत्त्व में और महत्तत्त्व मूलप्रकृति में विलीन हो जाता है। इस प्रकार गुणों का कारण में लीन होने से पुरुष तत्त्व से जो अलग होना है, यही मोक्ष है।

'कैवल्य' के स्वरूप को इस प्रकार भी कहा जा सकता है स्वरूप प्रतिष्ठा अर्थात् जब जीवात्मा सूक्ष्म–शरीरादि प्रकृतिजन्य साधनों से सर्वथा पृथक् होकर शुद्ध होने से अपने स्वरूप में ही स्थित हो जाता है, तब मोक्ष को प्राप्त करता है। कैवल्य ऐसी अवस्था है जिसमें निश्चित रूप से तथा पूरी तरह से दुःखों के नाश करने की सामर्थ्य है। पुरुष के स्वरूप में अवस्थित हो जाने पर उससे सम्बन्धित बुद्धि (प्रकृति) भी मुक्त हो जाती है। पुरुष को भोग तथा अपवर्ग प्राप्त करने के बाद मन और बुद्धि का अपने करण में लीन हो जाना अर्थात् चेतन शक्ति (आत्मा) का अपने प्रकृत स्वरूप में अवस्थित हो जाना कैवल्य या मोक्ष है।[४२]

दुःखों का मूल द्रष्टा तथा दृश्य (पुरुष तथा प्रकृति) का अविवेक के द्वारा संयोग होना है।[४३] यह संयोग अविद्या मूलक है।[४४] इस अविद्या का नाश एवं कैवल्य की प्राप्ति का एक मात्र उपाय है– विवेकख्याति।[४५] विवेकख्याति रूप विशिष्ट ज्ञान वाले निर्मल चित्त में अविद्या का लेशमात्र भी अवशेष नहीं रहता है। विवेकख्याति अवस्था में योगी को आत्मा का स्वरूप बुद्धि, अहंकार एवं इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न दिखाई देने लगता है।[४६] विवेकख्याति के उदय होने से चित्त कैवल्याभिमुख हो जाता है। विवेकख्याति साधक को प्रकृति एवं पुरुष में भेद दिखलाकर उसे स्वरूपावस्थिति के योग्य बनाती है। तब उसे ज्ञात होता है कि मैं प्रकृति तथा प्रकृति रूप बुद्धि, अहंकार आदि नहीं हूँ। ऐसा अनुभव कर योगी स्वरूप में अवस्थित होने लगता है। विवेकख्याति भी सत्त्वगुणात्मक है। साधक को इसमें भी वैराग्य हो जाता, तब इस पर वैराग्य से साधक को असम्प्रज्ञात समाधि होती है। असम्प्रज्ञात समाधि के द्वारा रागादि दोषों के मूलकारण भूततत्त्व 'अविद्या' की समाप्ति के अनन्तर 'कैवल्य' की प्राप्ति होती है।[४७]

महत्तत्त्व से सूक्ष्मभूत पर्यन्त लिंग शरीर आदि पुरुषार्थशून्य होने से अपने–अपने सत्त्वादि गुणों तथा तज्जन्य व्युत्थान निरोध संस्कार 'मन' में, मन अस्मिता (अहंकार) में, अस्मिता बुद्धि में और बुद्धि का प्रधान अव्यक्त प्रकृति में लय हो जाता है। यही गुणों की दृष्टि से कैवल्य है। मन, बुद्धि, अहंकार का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। आत्मा में इन का सम्बन्ध बने रहना ही तो 'बन्धन' है और इनका सम्बन्ध विच्छेद

हो जाना ही 'कैवल्य' है।

अतः ध्यातव्य है कि चित्त अचेतन होते हुए भी अत्यन्त सूक्ष्म है। पुरुष के प्रतिबिम्ब की भाँति भासित है। इसमें ही अनित्य वृत्तियों का प्रवाह सदैव चलायमान है और चित्त प्रकृतिजन्य होने से त्रिगुणात्मक है। चित्त वह महासमुद्र है जिसमें संस्काररूपी वासनास्वरूप तरंगे उठती रहती है। अतः कैवल्य प्राप्ति हेतु चित्त सम्बन्धी वासनाओं की निवृत्ति ही परम दृष्टिगोचर होती है।

lUnHk lph&

१ "यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान–समाधयोऽष्टावंगानि– योगसूत्र २/२६
२ भारतीय दर्शन (दत्ता एवं चटर्जी), पृ० १८७
३ भारतीय दर्शन निबन्ध (दत्ता एवं चटर्जी), पृ० १८८
४ भारतीय दर्शन (दत्ता एवं चटर्जी), पृ० ३३२
५ भारतीय दर्शन का इतिहास (दास गुप्ता), पृ० २४७
६ भारतीय मनोविज्ञान (नारायण द्रविड़), पृ० ६०
७ भारतीय दर्शन का इतिहास (दास गुप्ता), पृ० २४८
८ भारतीय दर्शन का इतिहास (दास गुप्ता), पृ० २५३
९ सत्यार्थ प्रकाश (महर्षि दयानन्द) समुल्लास – ९
१० "अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचि–सुखात्मख्यातिरविद्या" – योगसूत्र २/५ (व्यासभाष्य)
११ योगसूत्र २/२४ (व्याय भाष्य)
१२ "सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्य अपरिणामित्वात्"– योगसूत्र ४/१८ (व्यासभाष्य)
१३ "तदासंख्येयवासनभिश्चित्रमपि परार्थ संहत्यकारित्वात"– योगसूत्र ४/२४ (व्यासभाष्य)
१४ "चित्त हि प्रख्या–प्रवृत्ति स्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम्"– योगसूत्र १/१/२ (व्यासभाष्य)
१५ वैदिक मनोविज्ञान (राजवीर शास्त्री), पृ० ८३
१६ योगसूत्र १/२ (व्यासभाष्य)
१७ भारतीय दर्शन (चन्द्रधर शर्मा), पृ० १५६
१८ भारतीय दर्शन (चन्द्रधर शर्मा), पृ० १५६
१९ भारतीय दर्शन (दत्ता एवं चटर्जी), पृ० १८८
२० "योगश्चित्तवृत्तिः निरोधः" – योगसूत्रा १/२
२१ भारतीय दर्शन (उमेश मिश्र), पृ० ३२२
२२ "प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रास्मृतयः"–योगसूत्र १०६
२३ "वृत्तयः पंचतयः क्लिष्टा क्लिष्टाः"–योगसूत्र १/१५
२४ वैदिक मनोविज्ञान (राजवीर शास्त्री), पृ० ७६
२५ "अविद्यास्मिताराग द्वेषाभिनिवेशाः पंचक्लेशाः"– योगसूत्र २/३
२६ भातरीय दर्शन का इतिहास (दास गुप्त), पृ० २५२
२७ भारतीय दर्शन (नन्द किशोर), पृ० ४०७
२८ योगसूत्र १/५० (व्यासभाष्य)
२९ योगसूत्र २/२४ (व्यासभाष्य)
३० योगसूत्र २/२४ (व्यासभाष्य)
३१ योगसूत्र १/५ भाष्य पर टिप्पणी (राजवीर शास्त्री – पा० योग दर्शन)
३२ भातरीय दर्शन (नन्दकिशोर), पृ० ४१०
३३ "प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि"–योगसूत्र १/७
३४ "इन्द्रियप्रमाणासिद्धया...प्रत्यक्षप्रमाण में"–योगसूत्र १/७ (व्यासभाष्य)
३५ भारतीय दर्शन (उमेश मिश्र), पृ० ३२२
३६ योगसूत्र १/७ (व्यासभाष्य)
३७ योगसूत्र १/७ (व्यासभाष्य)
३८ "विपर्यय मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्"–योगसूत्र १/८
३९ "शब्द ज्ञानानुपाती वस्तु शून्यो विकल्पः" –योगसूत्र १/९
४० योगसूत्र १/१०
४१ योगसूत्र १/११
४२ 'पुरुषार्थशून्यनां गुणानां प्रतिप्रसवः' – योगसूत्र – ४/३४ पर पातंजल भाष्य
४३ 'द्रष्ट दृश्ययोः संयोग हेय हेतुः' – योगसूत्र २/१७
४४ 'तस्य हेतुरविद्या'–योगसूत्र २/२४
४५ "विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपाय" – योगसूत्र २/२६
४६ "योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः' – योगसूत्र २/२८
४७ 'तद्वैराग्यादपि दोषवीजक्षेय कैवल्यम्'– योगसूत्र ३/५०

'kks/k&Nk=k

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

हमारा नीम-सबका हकीम

- ले.डॉ. सत्येन्द्र कुमार आर्य....

यह हरितवर्ण का मनोरम छायादार वृक्ष भारत में प्रायः सर्वत्र पाया जाता है। इसका बड़ा वृक्ष लगभग २५-३० फीट ऊंचा होता है। काण्ड सरल होता है जिससे चारों ओर शाखा प्रशाखायें निकली रहती हैं। इससे एक प्रकार का रस तथा निर्यास निकलता है। पत्र-संयुक्त,एकान्तर और ८-१० इंच लम्बे होते हैं। पत्रक-१-३ इंच लम्बे, आधा से डेढ़ इंच चौड़े, नेत्राकृति, पत्रदण्ड के दोनों ओर प्रायः ६-१४ जोड़ों में होते हैं। पुष्प-छोटे, श्वेतवर्ण के होते हैं, जिनसे सुगन्ध आती है। फल-कच्चा रहने पर हरा किन्तु पकने पर पीला और आकार में खिरनी जैसा दिखता हैं, जिन्हें लोग निम्बौली कहते हैं। प्रत्येक फल में एक बीज होता है, जिससे तेल निकलता है। पतझड़ में इसकी पत्तियां झड़ जाती हैं और वसन्त में ताम्रलोहित वर्ण के पल्लव निकलते हैं। पुष्पोद्गम भी वसन्त में और फल ग्रीष्म के अन्त मे और वर्षा के प्रारम्भ में लगते हैं।

धन्वन्तरि मुनि ने भावप्रकाश निघण्टु में इसके नामों की सार्थक चर्चा निम्नप्रकार की है-**निम्बः-निम्बति सिंचति स्वास्थ्यम् इति** - जो स्वास्थ्य को बढ़ावे। **पिचुमर्दः- पिचुं कुष्ठं मर्दयति नाशयति इति** - कुष्ठ को नष्ट करने वाला। **तिक्तकः**-तिक्तरसवाला। **हिंगुनिर्यासः**-हींग के समान जिससे गोंद निकलती हो (लै. मेलिया एजारेक्टा=Melia Azadirachta.अं० मार्गोसा ट्री=Margosa Tree. कुल-निम्ब कुल, मेलिएसी = Meliacae.

रासायनिक संगठन-इसकी छाल में तिक्त रालमय सत्व=Margosine, उड़नषीलतैल, गोंद, श्वेतसार, शर्करा तथा कषायद्रव्य होते हैं। बहिस्त्वक् में कषाय द्रव्य तथा अन्तस्त्वक् में तिक्तद्रव्य अधिक होता है। पत्र में तिक्तद्रव्य कम किन्तु त्वक्स्थित तिक्तद्रव्य की अपेक्षा जल में सुविलेय है। बीज में ४० प्रतिशत स्थिर तैल =Margosa वपस होता है जिसमें गन्धक का अंश रहता है।

दोष कर्म--यह तिक्त होने से कफ और पित्त का शमन करता है। संस्थानिककर्म बाह्य--इसका पत्र एवं त्वक् जन्तुघ्न, व्रणपाचन, व्रणशोधन, पूतिहर, दाहप्रशमन एवं कण्डूघ्न है।

रक्तवहसंस्थान-तिक्तरस होने के कारण यह रक्त को शुद्ध करता है तथा रक्तविकारजन्य शोथ को दूर करता है। **श्वसनसंस्थान**--तिक्त होने के कारण यह कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान--यह तिक्त होने से मूत्रगत कफपेत्तिक विकारों (प्रमेहों) को दूर करता है।

तापक्रम--तिक्त होने से यह आमपाचन, ज्वरघ्न और विषशेतः नियतकालिक ज्वरप्रतिबन्धक है।

नेत्र--इसकी कोमल पत्तियां और पुष्प चक्षुष्य हैं तथा अनेक नेत्ररोगों को दूर करते हैं। प्रयोग-कृषि में दीमक आदि शत्रु कीटोंसे सुरक्षा के लिये पत्रों, इसके, पुष्पों तथा बीजों की खाद डालते हैं।

२. स्वस्थ दातो और मसूढों का दुर्गन्धिनाश और सुन्दरता के लिये नित्य इसके नये ताजे दातून से दन्तधावन करना चाहिये।

३. विद्रधि, ग्रन्थि और व्रण पर इसकी पत्तियों का लेप करते हैं। कण्डू आदि त्वग्दोषों में पत्रक्वाथ से स्नान कराते हैं तथा इसका तैल लगाते हैं। सन्धिशोथ, आमवात आदि वातिक रोगों में इसका अभ्यंग करते हैं। सिर के कृमियों को मारने के लिये इसके बीजों की गिरि पीसकर

लगाते हैं। पालित्य और खालित्य (सिर का गंजापन) रोग में तैल का नस्य देते हैं। दाह में पत्रस्वरस का फेन लगाते हैं।

४. त्वचा में कुष्ठरोग तथा दाह में इसका प्रयोग होता हैं।

५. वसन्त ऋतु में ताम्रलोहित पत्र ५० ग्राम+कालीमिर्च १० दाने, दोनो को सिल या खरल में पीसकर मटर बराबर गोली बनाकर छायाशुष्क कर सुरक्षित कर लें। इसकी ३-५ गोली, ५ दिन नित्य सवेरे एक गिलास शीतल जल से निगल जायें और साल भर के लिये फोड़े-फुन्सी से छुट्टी पा लें। प्रयोज्यांग-पत्र, पुष्प, त्वक् (छाल), बीज और तैल। मात्रा-त्वक्चूर्ण १-२ ग्राम, पत्रस्वरस-१२-२५मि.लि. तैल-४ -१० बूंद। विशिष्ट योग-निम्बादि चूर्ण, निम्बारिष्ट, निम्बहरिद्राखण्ड।

निम्बस्यतैलं प्रकृतिस्थमेव नस्तो निशिक्तं विधिना यथावत्। रासेन गोक्षीरभुजो नरस्य यवाग्रभूतं पलितं निहन्ति।। -भै.र

-गुरुकुल पौन्धा, देहरादून

सूचना

विश्वविद्यालय एवं महाविद्यालयों के सभी प्राध्यापकों एवं शोधच्छात्रों के लिए हर्ष का विषय है कि 'आर्ष-ज्योतिः' हिन्दी एवं संस्कृत का प्रसिद्ध समाचार पत्र है। यह देश के अनेक प्रान्तों में लोकप्रिय है।

'आर्ष-ज्योतिः' का मूल्याङ्कित शोध विशेषाङ्क पहले प्रतिवर्ष में एक ही बार प्रकाशित होता था परन्तु अब त्रैमासिक कर दिया गया है। यह पत्र अन्ताराष्ट्रिय मूल्याङ्कित शोधपत्र (IISSN-२२७८-०९११२) है। विशेषाङ्क हेतु आप अपने शोध लेख प्रेषित कर सकते हैं। आप अपने शोध लेख AAText Font में पेजमेकर प्रोग्राम में मुद्रित कर व पूर्ण संसोधन (प्रुफ देखकर) कर सी.डी. बना डॉक एवं ई.मेल द्वारा प्रेषित कर सकते हैं।

-कार्यकारी सम्पादक (आर्ष-ज्योतिः)

ई.मेल-arsh.jyoti@yahoo.in , दूरभाष-८८१०००५०९६, ९४१११०६१०४

शेष भाग पृष्ठ ६ का....

ओ३म् यह केवल एक ध्वनि नहीं अपितु एक ऐसा पवित्र शब्द है जो परमपिता परमेश्वर का ऐसा स्वरूप है, जो मानव जीवन को आन्तरिक व बाह्य रूप से पूर्णतः प्रभावित करता है। इस प्रकार ओ३म् की साधना द्वारा हम कल्याणकारी मार्ग पर प्रशस्त होते हुए कैवल्य को प्राप्त कर सकते हैं।

सन्दर्भ सूची-

१. कठोपनिषद्-२.१५
२. माण्डूक्योपनिषद्-८
३. योगदर्शन-१.२७
४. श्रीमद्भगवद्गीता ७.८
५. माण्डूक्योपनिषद्-२५
६. माण्डूक्योपनिषद्-२६
७. माण्डूक्योपनिषद्-२७
८. माण्डूक्योपनिषद्-२८
९. माण्डूक्योपनिषद्-१
१०. प्रश्नोपनिषद्-५.५
११. मनुस्मृतिः-२.८
१२. श्रीमद्भगवद्गीता-१८.१८
१३. यजुर्वेद ४०.१७

गीता में प्रतिपादित कतिपय प्रासंगिक तथ्य

अजीत कुमार....✍

यातं यस्तनिमानमेनमखिलं विश्वायुषः पर्यये।
तन्तुं सृष्टिमयम्पुनर्वितनुते यज्ञाभिधकेवलः।।
कर्मैतत्खलुकामनाविरहितन्तस्यानिशं चिन्तयन्।
आचर्तुम्प्रभवेयमित्यतितरामभ्यर्थये तम्प्रभुम्।।

श्रीमद् भगवद्गीता के अनेक भाष्य लिखे गये हैं। प्राचीन तथा अर्वाचीन सभी प्रकार के विद्वानों ने गीता के अभिप्राय को प्रकट करने के लिए अपनी-अपनी लेखनी का कौशल दिखाया है। संसार के साहित्य में बाईबिल का कदाचित् सर्वाधिक प्रचार है, किन्तु उसका कारण उसकी अपनी अपूर्व विशेषता नहीं है। भिन्न-भिन्न ईसाई देशों की राज्य शक्तियों एवं बाईबिल सोसाइटियों का सतत अध्यवसाय तथा अदम्य उद्योग बाईबिल को यह आसन दे चुका है। इतना अधिक प्रचार होने पर भी बाईबिल ईशा के अनुयायीवर्ग से बाहर कहीं भी अपना आदर पूर्ण आस्पद नहीं बना सकी अर्थात् आज तक किसी गैर ईसाई ने बाईबिल पर मोहित होकर उसका प्रकाशन नहीं किया किन्तु यह भारतवर्ष के लिए अत्यन्त गौरव की बात है कि उसके पास आर्य ऋषियों का दिया हुआ एक ऐसा रत्न है, जिसकी विमल आभा आर्य-अनार्य सबके हृदय को आकर्षित कर लेती है, जिसकी मोहकता का जादू सभ्य-असभ्य सभी पर अनायास चला जाता है। यह रत्न है श्रीमद्भगवद्गीता। संसार की ऐसी कोई भाषा नहीं जिसमें गीता के एक से अधिक अनुवाद न हुए हो। अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेन्च, लैटिन, ग्रीक, स्लाव, स्पेनिश, पोर्तुगीज आदि यूरोप की विभिन्न भाषाओं में इसके विविध अनुवाद एवं टीकाएँ प्राप्त होती हैं। एशिया महाद्वीप की भी सभी भाषाओं में गद्य-पद्य दोनों प्रकार के अनुवाद आदि है। आज के इस भौतिकतावादी संसार में तत्त्वरहित पदार्थ का कोई मूल्य नहीं है ऐसे में गीता का सुविस्तृत प्रचार इसकी प्रासंगिकता का उत्कृष्ट निदर्शन है। गीता में वर्णित प्रत्येक श्लोक वर्तमान परिप्रेक्ष्य में दृश्यमान सभी समस्याओं के लिए नितान्त प्रासंगिक है। निदर्शनार्थ यहाँ कतिपय विषयों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

गीता प्रोक्त निष्काम कर्म-

यजुर्वेद का यह मन्त्र कर्मयोग का प्रतिपादन करता है। सम्पूर्ण गीता इसी मन्त्र का भाष्य प्रतीत होती है। एक मन्त्र का इतना विस्तृत ऐसा भावपूर्ण और स्वारसिक अनुवाद सारे साहित्य में कहीं देखने को नहीं मिला। इस मन्त्र का भाव है- **'कर्म करते हुए ही संसार में जीने की इच्छा करो। यह गति तुम्हें विपरीत मार्ग की ओर ले जाने वाली न होगी और इस प्रकार का कर्म बन्धन का न होगा।'** इसी मन्त्र का प्रतिरूप श्लोक फलाकांक्षा रहित कर्म करने की प्रेरणा देता है।[१]

गीता प्रोक्त सांख्य योग-

नित्य-अनित्य, आत्मा-अनात्मा और क्षर-अक्षर की विवेक ज्ञान के द्वारा गणना करने का नाम सांख्य है। यदि आज का मनुष्य शरीर और आत्मा के इन धर्मों को मूलतः समझ ले, तो उसके दुःख का समूल विनाश सम्भव है। सांख्य के विवेचन के द्वारा योगिराज ने आत्मा को अमर और शरीर को अवश्य नाश होने वाला सिद्ध कर अर्जुन के मोह और भ्रान्ति को दूर करने का यत्न किया।[२]

गीता प्रोक्त कर्म योग-

सांख्य योग के पश्चात् श्रीकृष्ण ने अर्जुन की कर्मफल पर दृष्टि और उसके सोचे हुए कर्मफल के त्याग दोनों ही की समालोचना करते हुए उसे निष्काम कर्म के अनुष्ठान का उपदेश किया। उनका यह उपदेश

द्वन्द्वग्रस्त आज के मानव के लिए निश्चय ही प्रेरक है। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कर्म को कर्तव्यबुद्धि से करो, फल की कामना का सर्वथा बहिष्कार कर दो। फल का सम्बन्ध टूट जाने पर कर्म बंधन का कारण नहीं होता।[३]

कर्मसंन्यास का अशक्यत्व-

इसका तात्पर्य यह है कि कर्मों को सर्वथा छोड़ देना असंभव ही है। शारीरिक कर्म बलपूर्वक छोड़ भी दिए तो मानसिक कर्म होते रहते हैं। निश्चय ही कर्मसंन्यास की अशक्यता अकर्मण्य व्यक्ति को कर्मरतता का संदेश देती है।[४]

प्राचीन समाज में गीता की प्रासंगिकता का निदर्शन महाभारत का भीषण रण है, जिसमें धर्म और अधर्म के युद्ध में गीता के ज्ञान ने निर्णायक भूमिका निभाई थी। प्रश्न उठता है कि क्या महाभारतकालीन प्रासंगिकता सम्पन्न गीता की आधुनिक समाज में कोई प्रासंगिकता है? आज समाज में भ्रष्टाचार का बोलवाला है। राजनीति के नाम पर राष्ट्र का शोषण किया जा रहा है। धर्म के नाम पर लोगों को उन्मादी बनाया जा रहा है। ऐसे विघटन सम्पन्न आधुनिक समाज में गीता जैसे पवित्र ग्रन्थ की क्या प्रासंगिकता हो सकती है? गीता के अध्ययन सम्पन्न व्यक्तित्व के लिए इन समस्त सामाजिक विसंगतियों के दूरीकरण का एकमात्र उपाय गीता ही है। एक समय था जब श्रीकृष्ण थे तथा उनके समक्ष अर्जुन था और किंकर्तव्यविमूढ़ अर्जुन को इतिकर्तव्यता का बोध श्रीकृष्ण ने कराया।

आधुनिक समाज में श्रीकृष्ण के स्थान पर उनका ज्ञान (गीता) हमारे मध्य में विद्यमान हैं तथा समस्याग्रस्त समस्त मानव समाज अर्जुन है। विचारणीय है कि अर्जुन हो और श्रीकृष्ण (गीता) न हो, तो महाभारतयुद्ध का क्या परिणाम होता? निश्चय ही पाण्डवों की पराजय। इसी प्रकार आज के अर्जुन (आधुनिक समाज) के पास यदि श्रीकृष्ण (गीता) न हो, तो धर्म पर अधर्म की विजय होगी। धर्म-अधर्म के इस रण में गीता की निर्णायक भूमिका की निर्वाहकता उसकी प्रासंगिकता को अभिव्यक्त करती है।

सन्दर्भ सूची-

१. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।।

२. अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।

३. योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जयः।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।

४. न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।

शोध छात्र, दिल्ली विश्वविद्यालय

आर्ष-ज्योति के सहृदय पाठकों से...

सहृदय पाठकों! आर्ष-ज्योति पत्रिका का वर्ष २००८ से नियमित प्रकाशन हो रहा है। सभी पाठकों के पास मास की ८ दिनांक तक आर्ष-ज्योति प्रेषित की जाती है, किन्तु डॉक की अव्यवस्थाओं के कारण कुछ पाठकों को पत्रिका नहीं मिल पा रही है, इसके लिए हमें अत्यन्त खेद है। अतः आप सहृदय पाठकों से निवेदन है कि आपकी प्रिय पत्रिका आर्ष-ज्योतिः मास के १५ दिनांक तक अप्राप्ति की दशा में तुरन्तु सूचित करें तथा सही पते हेतु पत्र, ई-मेल या दूरभाष पर पंजीकरण संख्या (पं.सं.) सहित पूर्ण विवरण देवें, जिससे आपको पत्रिका प्रेषित करने में असुविधा न हो।

महर्षिदयानन्दाभिमत ईश्वरो वैदिकपरिप्रेक्ष्ये

– वेदव्रतः ....

महर्षिः दयानन्दः स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशे सर्वप्रथममीश्वरमेव व्याख्यायन् ब्रवीति– ईश्वरः यस्य ब्रह्मपरमात्मादिनामानि यश्च सच्चिदानन्दादिलक्षणयुक्तः, गुणकर्मस्वभावाश्च यस्य पवित्राः, यो हि सर्वज्ञो, निराकारः, सर्वव्यापकोऽजन्मा, अनन्तः, सर्वशक्तिमान्, दयालुः, न्यायकारी, सकलसृष्टेः कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता च, सकलजीवानां कर्मानुरूपं सत्यन्यायेन फलदातृत्वादिलक्षणयुक्तश्च वर्त्तते, स एव ईश्वर इति मन्ये।

सर्वप्रथमं तावत् **ईश ऐश्वर्ये** इति धातोः **स्थेशभासपिसकषो वरच्**[१] इति सूत्रेण वरच् उत वा **अश्नोतेराशुकर्मणि वरट् च**[२] इति उणादिसूत्रेण वरट् प्रत्यये च ईश्वरः शब्दः निष्पन्नो भवति।

महर्षि पतञ्जलिरीश्वरं व्याख्यायन् ब्रवीति– **क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरूषविशेष ईश्वरः।**[३] महर्षि दयानन्दोऽप्युणादिकोषस्य व्याख्याने ईश्वरशब्दस्य व्युत्पत्तिं कुर्वन्नाह– **अश्नुते आशु शीघ्रं करोति जगद्रचयति स ईश्वरः**[४]। योगदर्शनस्य राजमार्त्तण्डभाष्ये राजर्षि भोजः एतानेव भावान् प्रकटयन्नाह– **ईश्वर ईशनशील इच्छामात्रेण सकलजगदुद्धरणक्षमः**[५]। महर्षि दयानन्दः सत्यार्थप्रकाशस्य प्रथमसमुल्लासे ईश्वरशब्दस्यार्थमेवंविध मेव प्रतिपादयति– **ईष्टे सर्वैश्वर्यवान् वर्त्तते स ईश्वरः**

अथ च महर्षिणा व्यासेनापीदमेवोच्यते योगदर्शनभाष्ये ईश्वरस्य स्वरूपविषये– **यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वर इत्युच्यते**[६]। अथेदानीं महर्षिदयानन्दस्य स्वमन्ताव्यामन्तव्ये प्रतिपादितानां लक्षणानां वैदिकत्वामिहेषत् प्रस्तौमि– महर्षिदयानन्दस्य प्रत्येकमपि शब्दः वेदेषु निर्दिष्टस्येश्वरस्य साररूपमेव वर्त्तते।

तत्र सर्वप्रथमं महर्षिणा लिख्यते– ईश्वरः यस्य ब्रह्म परमात्मादिनामानि सन्ति। ब्रह्म शब्दस्य निरुक्तिं कुर्वन् सत्यार्थप्रकाशस्य प्रथमसमुल्लासे लिखति आचार्यो दयानन्दः–**सर्वेभ्यो बृहत्वात् ब्रह्म**। अथ च उणादिकोषे– **बंह्रति वर्धते तद् ब्रह्म ईश्वरो वेदस्तत्त्वं तपो वा**[७]। वेदे चानेकत्र ईश्वरार्थे ब्रह्म शब्दस्य प्रयोगो वर्त्तते तद्यथा–

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्यै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥[८]

यत्र लोकाश्च कोशाश्चपो ब्रह्म जनाः विदुः।[९] इत्याद्यनेकेषु स्थलेषु ब्रह्म नाम्ना स्तूयते परमेश्वरः।

अथ च महर्षिणा लिख्यते– यश्च सच्चिदानन्दादि–लक्षणयुक्तः। सत्–चित्–आनन्द–शब्दाञ्च प्रथमसमुल्लासे व्याख्यायि महर्षिणा। सत्– **यदस्ति त्रिषु कालेषु न बाध्यते तत्सद् ब्रह्म।** चित्– **यश्चेतति चेतयति संज्ञापयति सर्वान् सज्जनान् योगिनस्तच्चित्परं ब्रह्म।** आनन्द–**आनन्दति सर्वे मुक्ताः यस्मिन् यद्वा यः सर्वाञ्जीवान् आनन्दयति स आनन्दः।**

वेदे च–**वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहासद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्**[१०]। **प्रतद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहासत्**[११]। **एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति**[१२] इत्याद्यनेकेषु मन्त्रेषु सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म[१३] इत्याद्यनेकेषु वाक्येषु च परमात्मा सदिति नाम्नाभिहितः।

ईजानश्चितमारूक्षदग्निम्[१४] **दूढा चिदारूजे वसु**[१५] इत्यादिषु मन्त्रेषु, **विज्ञानमानन्दं ब्रह्म**[१६] इत्यादिषु वाक्येषु च परमात्मा चित्स्वरूपत्वेन ज्ञानस्वरूपत्वेन वा स्तुतः। अत एव वाचस्पतिमिश्रः भामती टीकायां लिखति– **स्वप्रकाशत्वं चित्वम्**[१७] यस्तु स्वत एव प्रकाशज्ञानयुक्तोऽस्ति इति।

अथ च **हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे.........**[१८] **य आत्मदा बलदा........**[१९] **यः प्राणतो निमिषतो....**[२०]इत्यादिमन्त्रेषु कस्मै देवाय हविषा विधेम इति सुखस्वरूपत्वेन आनन्दरूपत्वेन परमात्मा स्तूयते। परमात्मनः आनन्दरूपत्वम् **आनन्दो ब्रह्मेतिव्यजानात्**[२१] इत्यादिवाक्यैरपि वर्ण्यते।

बृहदारण्यकोपनिषदि तु ईश्वर **एषोऽस्य परम आनन्दः**[२२] इति परमानन्दरूपेण वर्णितः। अथ च महर्षिदयानन्दो लिखति-**यस्य गुणकर्मस्वभावाश्च पवित्राः**। वेदे च-

इन्द्र शुद्धो न आगहि शुद्धः शुद्धाभिरूतिभिः।
शुद्धो रयिं निधारय शुद्धो ममद्धि सोम्यः॥[२३]

विश्वोयस्य व्रते जनो दाधार धर्मणस्पतेः। पुनानस्य प्रभूवसो॥[२४] इत्याद्यनेकेषु मन्त्रेषु **शुद्धः पुनानः** इत्यादिभिः शब्दैः परमात्मनः गुणकर्मादीनां पवित्रत्वमुच्यते।

अथ च महर्षिणा- यो हि सर्वज्ञो निराकारः सर्वव्यापकोऽजन्मा, अनन्तः, सर्वशक्तिमान्, दयालुः, न्यायकारी इति लिख्यते- **एष सूर्यमरोचयत्पवमानो विचर्षणिः। विश्वा धामानि विश्ववित्**[२५] **स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा**[२६] इत्यादिमन्त्रैः **स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता**[२७] इत्यादिभिर्वाक्यैश्च परमात्मनः सर्वज्ञत्वं प्रस्तूयते शास्त्रैः।

महर्षिदयानन्देन परमात्मा निराकारः (निर्गत आकारात् स निराकारः) इत्युल्लिखितः। वेदैश्च परमात्मनः निराकारत्वं स्फुटैः शब्दैः घोष्यते- **न तस्य प्रतिमास्ति यस्य नाम महद्यशः**[२८]**। सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमनाविरं शुद्धमपापविद्धम्**[२९]**। अपाद शीर्षा गुहमानः**[३०]**।**

अथ च-**अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः**[३१] इत्यादिवाक्यैरपि परमात्मनः निराकारत्वं स्पष्टमेव।

महर्षिदयानन्देन परमात्मा सर्वव्यापको मतः। वेदे चापि- **ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्**।[३२] **परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च**[३३] **त्वं हि विश्वतो मुखो विश्वतः परिभूरसि**[३४] इति सर्वव्यापकत्वं प्रतिपादितम्।

अथ पुरूषसूक्ते-**सहस्रशीर्षापुरूषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं सर्वतस्तृत्वात्यतिष्ठद् दशांगुलम्**[३५] इत्यादिभिर्मन्त्रैः परमात्मनः पुरूषरूपेण सर्वव्यापकत्वं वर्ण्यते। को वा पुरूष इति, तर्हि- **पूर्णत्वात् पुरिशयनात्**[३६] **वा ईश्वर पुरूषरूपेणोच्यते**। एवं तर्हीश्वरस्य सर्वव्यापकत्वं विविधैः शब्दैः वेदे वर्ण्यते।

अथ च महर्षिणा दयानन्देन ईश्वर अजन्मा इति मन्यते। वेदे चापि- **सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरम्**।[३७] **शन्नो अज एक पाद्देवोऽस्तु**।[३८] **अजो न क्षां दाधार पृथिवीम्**।[३९] इत्यादिषु मन्त्रेषु परमात्मन **अज** अजन्मा इति नाम्ना महिमा वर्ण्यते।

अथ ऋषिः दयानन्द ईश्वरमनन्त इति मन्यते।

अनन्तं विततं पुरूत्रानन्दमन्तवच्चा समन्ते[४०]
न यस्य देवा देवता न मर्त्या आपश्च न शवसो अन्तमापुः[४१] **न यस्य द्यावापृथिवी अनुव्यचो न सिन्धवो रजसो अन्तमानशुः**[४२]

इत्यादिभिर्मन्त्रैर्वेदमूलकमेव ईश्वरोऽनन्त इति प्रतिपादितः।

अथ च **न वा ओजीयो रूद्र त्वदस्ति**[४३] **न ते अन्तः शवसो धाय्यस्य। वि तु बाबधे रोदसी महित्वा**।[४४] इत्यादिभिर्मन्त्रैः परमात्मनः सर्वशक्तिमत्वमवबुध्यैव महर्षिदयानन्दो लिखति- **सर्वाः शक्तयोः विद्यन्ते यस्मिन् स सर्वशक्तिमानितिव्यपदिश्यते**।

महर्षिः दयानन्दः ईश्वरं दयालुः- **दयते ददाति जानाति गच्छति रक्षति हिनस्तिमया सा दया। वह्वी दया विद्यते यस्य स दयालुः** इति मन्यते। वेदे खल्वपि-**यो मृडयाति चक्रुषे चिदागः**[४५] **यन्नूनमृयां गतिं मित्रस्य याया पथा**[४६] इत्यादिभिर्मन्त्रैरीश्वरस्य आगोऽपराधिनः प्रत्यपि दयाभावेन दयालुत्वं निगद्यते।

अथ च महर्षि दयानन्द ईश्वरं न्यायकारी **न्यायं कर्तुं शीलमस्य** इत्येवं मन्यते। वेदे चापि- **शन्नो मित्रः शं वरूणः शंनो भवत्वर्यमा**[४७] **विजानीह्यार्यान्ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्**।[४८] इत्यादिषु मन्त्रेष्वार्याणां श्रेष्ठाचारिणां सिद्धिः दुष्टानाञ्च दण्डादिन्यायेन शिक्षां प्रार्थयन् परमात्मनो न्यायकारित्वमेव बोध्यते।

अथ च ऋषि दयानन्दः लिखति-सकलसृष्टेः कर्त्ता धर्त्ता हर्त्ता च सकलजीवानां कर्मानुरूपं सत्यन्यायेन फलदातृत्वादिलक्षणयुक्तश्च यो वर्त्तते, स एव ईश्वरः इति मन्ये। तानि च लक्षणानि- **द्यावाभूमी जनयनदेव एकः**[४९] **स दाधार पृथिवी द्यामुतेमाम्**[५०] **सोमः पवते जनिता**

मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः। जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः॥[५१] इत्यादिमन्त्रैः परमात्मनः सृष्टेः कर्तृत्वं, धातृत्वं, हर्तृत्वञ्च वैदिकमेव विद्यते। अत एव महर्षि दयानन्दः पूर्वोक्तैर्लक्षणैर्युक्तमेव (**य ईश्वरेषु समर्थेषु परमः श्रेष्ठ स परमेश्वरः**) परमेश्वरं मन्यमानः आर्यसमाजस्य प्रथमनियमे निष्कर्षरूपेण वर्णयन्नाह- सर्वासां सत्यविद्यानां विद्यया ज्ञेयानाञ्च सर्वेषां पदार्थानामादिमूलं परमेश्वर अस्ति।

अनादिपदार्थास्त्रयस्सन्ति- **ईश्वरः, जीवः, प्रकृतिश्च।** एते नित्या अप्युच्यन्ते। ये नित्यास्तेषां गुणकर्मस्वभावा अपि नित्यास्सन्ति इत्यत्र विरोधाभासं प्रदर्शयन्तः अत्र केचन कथयन्ति यत्- स्वमन्तव्यामन्तव्ये तु महर्षिः दयानन्द ईश्वरजीवप्रकृतयोऽनादिपदार्थारिति कथयति। अथ च आर्यसमाजस्य प्रथमे नियमे सर्वेषां पदार्थानामादिमूलम् परमेश्वर इति लिखति, तत्कथम्? तत्र खलु आपाततः श्रवणमात्रेणास्य प्रश्नस्यौचित्यं प्रतिभाति, किन्तु महर्षिदयानन्देन वाक्यार्थबोध निर्दिष्टानि कारणानि **आकांक्षा योग्यता आसत्ति तात्पर्यान्** उपस्थाप्य विचार्यते तर्हि निराधारोऽयं प्रश्नः इति ज्ञायते।

यतो यत्र महर्षिः पदार्थानामादिमूलं परमेश्वर इति कथयति तत्र आदिमूलमिति शब्देन परमेश्वरः एव सर्वेषां पदार्थानां निमित्तोपादानकारणमिति महर्षेऽभिप्रायः नास्ति। यद्येवं स्यात् तर्हि महर्षिणा दयानन्देन मूलशब्दः न प्रयुक्तः स्यात्, यतो मूलशब्दो मुख्य-आधार-प्रधानादिषु अर्थेषु प्रयुज्यते। यथा कश्चिद् मनुष्यं प्रत्युच्यते- यदयं मनुष्योऽस्याः शिल्पशालाया, अस्याः संस्थाया वा मूलत्वेन वर्त्तते। तत्र हि मूलशब्देन शिल्पशालायाः संस्थायाः वा क्रियाकलापानामेवायं मनुष्यः मूलम् इति गम्यते। न तु तस्यां शिल्पशालायां निर्मितानां समेषामपि वस्तूनामेव सः निमित्तोपादानकारणे भवति। एवमेव संस्थायामपि।

एवमिहापि आदिमूलं परमेश्वरः इत्युक्ते ईश्वरः सृष्टेः क्रियाकलापानां कर्तृत्वात् पोषितृत्वात् संहर्तृत्वात् निमित्तकारणमित्येव गम्यते। तत्रोपादानकारणन्तु प्रकृतिरेव भवति। तेन हि आदिमूलम् इति शब्देन प्रकृतिजीवयोरनादित्वे न खलु कश्चन व्याघातः समुत्पाद्यते।

वेदे खल्वपि ईश्वरः सर्वस्य चराचरजगतो धातेति बहुशः स्तूयते- **स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्**[५२]

अतः सुस्पष्टमेतत् ऋषि दयानन्दस्य सिद्धान्ताः न तु परस्परं भिन्ना, नापि वेदमनिक्रान्ता, अपितु पूर्णतो वैदिका वैदिकपरिप्रेक्ष्यम् प्रस्तोतारः एव।

असिस्टेण्ड प्रोफेसर
गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

सन्दर्भ सूची

१ अष्टा. ३/२/१५७
२ उणा. ५/५७
३ योग. १/२४
४ उणा. ५/५७
५ योग. भो. वृ. १/२४
६ योग. व्या. भा. १/२४
७ उणा. ४/१४७
८ अथर्व. १०/२३/४/१०
९ अथर्व. १०/४/२२/१०
१० यजु. ३२/८
११ यजु. ३२/९
१२ ऋ. १/१६४/४६
१३ ऋ. २/१/१
१४ अथर्व. १८/४/१४
१५ यजु. २६/५
१६ बृह. ३/९/२८
१७ भामती १/१/१
१८ ऋ. १०/१२१/१
१९ ऋ. १०/१२१/२
२० ऋ. १०/१२१/३
२१ तै. उ. ३/६
२२ बृह. उ. ४/३/३२
२३ ऋ. ८/९५/८
२४ ऋ. ९/३५/६
२५ ऋ. ९/२८/५
२६ ऋ. १०/१२१/११
२७ सांख्य. ३/५६
२८ यजु. ३२/३
२९ यजु. ४०/८
३० ऋ. ४/१/११
३१ कठो.
३२ यजु. ४०/१
३३ यजु. ३२/११
३४ ऋ. १/९७/६
३५ यजु. ३१/१
३६ निरू. २/१/३
३७ यजु. ४०/८
३८ ऋ. ७/३५/१३
३९ ऋ. १/६६/३
४० अथर्व. १०/८/१२
४१ ऋ. १/१००/१५
४२ ऋ. १/५२/१४
४३ ऋ. २/३३/१०
४४ ऋ. ६/२९/५
४५ ऋ. ७/८७/७
४६ ऋ. ५/६४/३
४७ यजु. ३६/९
४८ ऋ. १/५१/८
४९ यजु. ३६/९
५० ऋ. १०/१२१/१
५१ साम. पू. ६/४/३
५२ ऋ. १०/१२१/१

अग्निहोत्रविज्ञानम्

रवीन्द्र कुमार....✍

यज्ञ भारतीय संस्कृति का एक अत्याज्य अंग है। यज्ञ को अगर भारतीय संस्कृति के अंग से दूर कर दिया जाए तो भारतीय संस्कृति निश्चित ही पंगु बन जाएगी। यज्ञ हमारी ऐसी धरोहर है, जिसको हम प्राचीन काल की हड़प्पा संस्कृति से लेकर अद्यपर्यन्त अक्षुण्ण बना रहे हैं। हड़प्पा संस्कृति में काली बंगा आदि क्षेत्रों से प्राप्त अग्निकुण्ड यज्ञ के परिपुष्ट साक्ष्य हैं। वैदिक ऋषियों ने यज्ञों पर अनेक अनुसन्धान किये थे। प्रत्येक अनुसन्धान का सार यही है कि प्रत्येक मानव को यज्ञ अवश्य करना चाहिए। प्राचीन ऋषि-मुनियों ने महान् परिश्रम से यज्ञ पर अपनी प्रयोगशालाओं में अनेक तथ्यों की अन्वेषणा की, जिसमें यज्ञ की वैज्ञानिकता सिद्ध होती है। महर्षि भारद्वाज की प्राचीन प्रयोगशाला ऋषियों की वैज्ञानिकता का प्रमाण है। जहाँ पर सतत अनेक अनुसन्धान होते थे। जिससे यह स्वत: सिद्ध है कि यज्ञ एक अपरिहार्य कर्म है। इसी वाक्य की पुष्टि करते हुए शतपथ ब्राह्मण कहता है कि **यज्ञों वै श्रेष्ठतमं कर्म** अर्थात् यज्ञ सबसे श्रेष्ठ कर्म है। प्रायेण महाभारत तक यज्ञ की प्रक्रिया प्रचलित थी, जिसके कारण मानव स्वस्थ, बलशाली एवं मानसिक संतुष्ट था क्योंकि भारत में आने वाले विदेशी राजदूत तथा चीनी यात्री, तात्कालिक ऐतिहासिक पुस्तक इस तथ्य की परिचायक है कि हमारे देश में प्रतिजन यज्ञ के प्रति श्रद्धान्वित था, परन्तु आधुनिक परिप्रेक्ष्य में हम यज्ञ को विस्मृत कर चुके हैं, जिसके कारण परित: अनेक असह्य समस्यायें हैं जिनका एकमात्र समाधान यज्ञ ही है।

यज्ञ की अनिवार्यता - वेद अनेक मन्त्रों से हमें शिक्षा देता है कि यज्ञ अवश्य करना चाहिए। यजुर्वेद के ''**समिधाग्निं दुवस्य घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन।। सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन। अग्नये जातवेदसे स्वाहा।। तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि। बृहच्छोचा यविष्ठ्य स्वाहा।।**

इत्यादि मन्त्र यज्ञ की अनिवार्यता की घोषणा करते हैं। ऋग्वेद में कहा है कि ''**ईजाना: स्वर्गं यन्ति**'' अर्थात् यज्ञ करने वाला व्यक्ति सदा स्वर्ग में रहता है। यहाँ यह ध्यातव्य होना चाहिए कि स्वर्ग कोई ऊपर या मृत्यु के पश्चात् नहीं प्राप्त होता, अपितु इसी भूमि पर रहकर निर्विघ्न आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करना स्वर्ग है। इस वाक्य की पुष्टि यास्क ने की है। वे स्वर्ग शब्द का अर्थ सुख विशेष बताते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय उच्चस्तर से यज्ञ की अनिवार्यता का उपदेश देता है।

यज्ञ शब्द का अर्थ - पाणिनि इस यज धातु का अर्थ देवपूजा, सङ्गतिकरण तथा दान बताते हैं। देवपूजा से तात्पर्य देव अर्थात् परमात्मा, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र आदि देवता तथा विद्वानों की यथावत् पूजा (सत्कार) करना इङ्गित है। सङ्गतिकरण का अर्थ है पदार्थों की परस्पर सङ्गति करना। सङ्गतिकरण शब्द ही यज्ञ में विज्ञान का द्योतक है। यही शब्द यज्ञ में विज्ञान को सिद्ध करता है क्योंकि सम्पूर्ण विज्ञान में पदार्थों का संयोग ही तो है। दान अर्थात् परोपकार आदि कार्य करना। यज्ञ में डाले गये पदार्थ जब सूक्ष्म होकर अन्तरिक्ष में जाते हैं तब उसका लाभ सृष्टि के प्रति प्राणी को पहुँचता है चाहे वह हमारा शत्रु ही क्यों न हो? अल्प पदार्थों से प्रति प्राणी का उद्धार अन्य किसी माध्यम से सम्भव नहीं है। इसीलिए यज्ञ श्रेष्ठ कर्म है।

यज्ञ से लाभ - यज्ञ से विभिन्न लाभ है जिनका परिगणन नितान्त असम्भव है। यज्ञ शब्द के अर्थ से ही यज्ञ के अनेक लाभ सिद्ध है। वेद मन्त्र यज्ञ के बहुश: लाभ बताते हैं। यज्ञ से हमारे पर्यावरण की हानिकारक दुर्गन्धियुक्त वायु समाप्त हो जाती है क्योंकि पदार्थविज्ञान इस बात को प्रमाणित करता है कि अग्नि के बिना दुर्गन्धित वायु हल्की होकर वहाँ से नहीं निकल सकती है। अग्नि का ही यह सामर्थ्य है कि वह हानिकारक वायु को वहाँ से हटा शुद्ध वायु का प्रवेश कराती है। इससे पर्यावरण की शुद्धि तथा रोगों का विनाश होता है क्योंकि प्राय: सभी रोगों की उत्पत्ति का कारण प्रदूषण ही है।

यज्ञ के द्वारा शुद्ध वायु हलकी होकर अन्तरिक्ष में जाती है। वहाँ वह मेघ का निर्माण तथा जल की शुद्धि करती है। आज वैज्ञानिक तेजाबी वर्षा से परेशान है। जिसका निवारण हो सकता है। क्योंकि अनेक स्थलों पर वृष्टि यज्ञ के माध्यम से कृत्रिम वर्षा करायी गयी है। जो आज भी सवर्था सम्भव है। अनेक स्थल अतिवृष्टि से परेशान थे, वहाँ यज्ञ द्वारा अतिवृष्टि से मुक्ति दिलायी गयी है।

यज्ञ से अनेक रोगों का शमन किया जाता हैं यज्ञ चिकित्सा अनेक रोगों में रामबाण है। जिन रोगों में मेडिकल साइंस मौन है। वहाँ यज्ञ चिकित्सा ने लाभ पहुँचाया है। अथर्ववेद में तो यज्ञ चिकित्सा पर अति गम्भीर चिन्तन किया गया है।

वर्तमान की समस्या – वर्तमान में पश्चिमी सभ्यता की परिच्छाया में शिक्षित वर्ग वैदिक यज्ञीय परम्परा को स्वीकार करने से पीछे हटता हैं वह मात्र यज्ञ को एक कर्मकाण्ड स्वीकार करता है। जबकि यज्ञ सम्पूर्ण वातावरण को सन्तुलित करने का एकमात्र साधन है। आज पश्चिमी वैज्ञानिक भी इस सिद्धान्त से सहमत है कि यज्ञ वातावरण की शुद्धि का एकमात्र साधन है।

हमारे ऋषियों ने जो परम्परा हमें दी हैं। उसके पीछे अवश्य ही कोई रहस्य होता है। ऋषियों ने यज्ञ की अनिवार्यता पर पर्याप्त बल दिया है। इसके पीछे पर्यावरण ही मुख्य हेतु है। वर्तमान का समाज बिना किसी प्रमाण के किसी विषय को स्वीकार नहीं करता है। इसीलिए आधुनिक गवेषणाओं तथा प्रयोगों का संक्षिप्त सार मैं यहाँ उद्धृत करता हूँ।

हवन से स्वाहा होती हैं बीमारियां

एनबीआरआई के शोध का निष्कर्ष

यज्ञ के प्रयोग का प्रमाण – ३ दिसम्बर १९८५ को हुई भोपाल गैस घटना से कोई व्यक्ति अनजान नहीं है। जिसमें हजारों लोग कीड़ों की तरह मृत्यु को प्राप्त हुए थे। उस समय केवल दो परिवार जहाँ नित्य अग्निहोत्र होता था। वे इस विभीषिका से सुरक्षित बच सके।

२ दिसम्बर १९८५ को ही एस.एल. कुशवाह की निद्रा अपनी पत्नी त्रिवेणी की उल्टी (वमन) की आवाज से खुली। तभी यही समस्या उनको भी हुई।

शेष पृष्ठ-२७ पर..

योगासन और उसका महत्त्व

अजय कुमार शास्त्री....

योग का तृतीय अंग आसन है। अत: योग का अंग होने के कारण इन्हें योगासन कहते हैं। आसन की निरुक्ति निम्न प्रकार से भी की गई है। **'आस्यते आस्ते वा अनेन इति आसनम्'** शरीर को पृथक्-पृथक् स्थितियों में रखते हुए जिस किसी एक स्थिति में सुख पूर्वक लम्बे समय तक स्थिर रख सकें, शरीर की उस स्थिति को आसन कहते हैं। इसमें महर्षि पतंजलि के योगदर्शन का निम्न प्रमाण है :- **'स्थिरसुखमासनम्'**

स्थिरता पूर्वक सुखी अवस्था में बैठना ही आसन कहलाता है। योग दर्शन की दृष्टि में प्रत्येक आसन का अपना महत्त्व होता है और अपनी-अपनी अलग स्थिति होती है।

आसनों के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपने रोगों को दूर कर अरोग्यता प्राप्त कर सकता है। ये सभी के लिए उपयोगी हैं। योग, आसन एक ऐसा सरल व्यायाम है, जिसमें तनाव नहीं होता, आराम एवं लचकीला होता है। योगासन स्वस्थ एवं सुखी जीवन जीने का सुन्दर और उत्तम साधन है।

योगासनों की यह विशिष्टता है कि यह जितना शरीर को कसते हैं, उतना ही प्रत्युत उससे भी अधिक मन को केन्द्रित करते हैं। आसनों से स्थिरता प्राप्त होती है। शरीर के अवयवों का लचीलापन स्वस्थ रहने में बहुत ही उपयोगी माना गया है। प्रत्येक व्यक्ति का चालीस वर्ष से सत्तर वर्ष की आयु तक का काल उसके शरीर के लिए बहुत ही सावधानी का समय होता है। क्योंकि इसी काल में हड्डियाँ अपनी कोमलता को खोकर कड़ी (सख्त) हो जाती हैं और बड़ी आयु में होने वाले हृदय रोग, रक्तचाप (ब्लड प्रेसर) और मधुमेह आरोग्य जीवन का आनन्दानुभव करना हो, अपना जीवन सुखी रखना हो, उन्हें यह अमूल्य अवसर व्यर्थ न खोकर अपने यौवन को स्थिर रखने के लिए और मन एवं शरीर को पूर्ण स्वस्थ तथा सुरक्षित रखने के लिए प्रतिदिन श्रद्धापर्वक योगासनों का अभ्यास करना चाहिये।

योगासन अन्दर के शरीर को स्वस्थ रखने की क्रियायें हैं, जो शरीर बाहर दिखाई देता है, वह केवल अस्थिपंजर है। और उसे सुन्दर बनाने हेतु मांस और कोमल चर्म की आवश्यकता होती है। जब तक हमारा शरीर आन्तरिक दृष्टिकोण से स्वस्थ नहीं होगा, हम स्वस्थ नहीं कहला सकते, बाहर से चाहे मोटे और स्वस्थ दिखाई देते हों। हम देखते हैं कि हमारा स्नायुमण्ड़ल (नाड़ी समूह २४ घण्टे अपना कार्य करता रहता है। उसे एक क्षण भी विश्राम नहीं मिल पाता और हमारे फेफड़े भी ठीक से अपना कार्य सम्पादन करें और तथा आमाशय यकृत आदि भी ठीक से अपना कार्य करें और सातों धातु रक्त, मांस, मज्जा, मेद, अस्थि और वीर्य) शरीर की आवश्यकतानुसार पूर्ण तथा समय पर बनें, इन सबके लिए जरूरी है कि स्नायु मण्ड़ल बलिष्ठ हो, जिससे कि हमारे शरीर का प्रत्येक कार्य सुचारू रूप से होता रहे। स्नायु मण्डल को पुष्ट करने के लिए हमें सबसे अधिक समर्थ योगासन ही लगते हैं। योगासनों के अभ्यासी को शरीर के अन्दर होने वाले प्रत्येक उपद्रव की सूचना तुरन्त मिल जाती है व उसकी पकड़ इतनी बढ़ जाती है कि उसका शरीर सब कुछ बताने लगता है। हमें प्यास लगती है तो पानी पीते हैं, भूख लगती है तो खाते हैं। थक जाते हैं तो विश्राम करते है। ये शरीर की स्वाभाविक क्रियाएँ हैं यदि हम इनसे उल्टा करते हैं तो जैसे हमारे शरीर में थकावट है, भूख है नहीं पुनरपि हम भोजन कर

लेते हैं तो हमें वमन (उलटी) हो जाती है। या कोई अन्य रोग आ दबाता है क्योंकि हमारा शरीर किसी विकार को सहन नहीं करता, इसलिए उसकी अन्दर की आवाज को ध्यान से जानना चाहिए और शरीर को क्रियाशील करना चाहिये। जब हम उसकी ओर ध्यान नहीं देते तब विकास रोग का रूप धारण कर लेता है। और हम औषधियों की ओर भागते हैं। योगासनों द्वारा इस मैल को साफ करके हम शारीरिक, मानसिक और आत्मिक स्वास्थ्य तथा दीर्घ आयु प्राप्त कर सकते हैं।

योगासनों के करने से हम अपने शरीरस्थ विकारों को रोककर निर्जीवता और निर्बलता को दूर कर सकते हैं। योगासनों से पेट की अपचन, गैस, कब्ज, शरीर से दुर्गन्ध आना आदि रोग दूर होते हैं, क्योंकि अंतड़ियों पर इनका अत्यधिक प्रभाव पड़ता है।

योगासनों से चेहरे पर कान्ति एवं लालिमा आती है। शरीर में बल, मन में उत्साह और बुद्धि में शक्ति का विकास होता है। शरीर स्वस्थ सुन्दर, सुडौल, सदृढ़ और बलिष्ठ होता है। कहा भी गया है कि –

आसनेन रुजो हन्ति प्राणायामेन पातकम्।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण मुञ्चति।।

आसनों से रोग नष्ट होते हैं, प्रणायाम से शरीरस्थ पाप और प्रत्याहार से योगी के मन के विकार छुट जाते हैं।

योगासनों के अभ्यास से शरीर शक्तिशाली और दृढ़ होता है। सांसारिक चिन्ताएँ दूर होकर विषय भोगों में अनाशक्ति हो जाती है। योगासन आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति का अचूक साधन है ही परन्तु मौलिक दृष्टि से भी मानव जीवन की सफलता के लिए सर्वोत्तम मार्ग है। आसनों का मुख्य उद्देश्य स्वास्थ्य की रेखा और उन्नति करना है स्वस्थ रहना मनुष्यमात्र के लिए परमावश्यक हैं तथा आसन परमोपयोगी भी हैं।

अतः आसन बालक, वृद्ध, युवक, स्त्री, पुरुष सभी के लिए लाभप्रद हैं और सबको ही करने चाहिए। इस प्रकार से वर्तमान समय में सबको योगाभ्यास करना चाहिए और विशेषकर हर मानव को दैनिक जीवन में अपना कीमती समय निकाल कर सुबह-शाम प्रतिदिन योगासन करने चाहिए इसी से समस्त मानव का कल्याण सम्भव है। आसन ही जीवन को आसान बना देता है। बहुत से रोगों में तो आसन ही इलाज है। जैसे-सियाटिका पैन और वायुदोष सम्बन्धित रोगों से निजात दिलाने में योगासन ही औषध है।

योग केन्द्र, खेल परिसर
जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-०६७

आर्ष-ज्योतिः के सहृदय पाठकों से...

आर्ष-ज्योतिः में आप अपने लेख, कविता, भजन, प्रतिक्रया आदि भेज सकते हैं। आप सभी लेखक-महानुभावों से निवेदन है कि अपने लेख, प्रतिक्रिया, विचार, सुझाव, सूचना इत्यादि कुछ भी सामग्री जो प्रकाशनार्थ भेजी जा रहीं है, उसे AAText font तथा पेजमेकर प्रोग्राम में मुद्रित कराकर एवं प्रूफ-संसोधन कर ई.मेल/डॉक द्वारा प्रेषित करें। जो महानुभाव अपनी प्रतिक्रिया पोस्टकार्ड के माध्यम से प्रेषित करना चाहते है, वे स्पष्ट, सुपाठ्य लिपि में लिखकर/लिखवाकर ही प्रेषित करें। प्रेषित करते समय अपना नाम, पता एवं दूरभाष अवश्य ही दें। धन्यवाद। **-कार्यकारी सम्पादक**

ई.मेल-arsh.jyoti@yahoo.in **दूरभाष**-८८१०००५०९६

व्याकरण के अध्ययन में मीमांसा दर्शन की अनिवार्यता

प्रशान्त

अखिल विद्याओं का मूल वेद है यह मन्तव्य अधिकांश आस्तिक मनीषियों का है। महामेधवी भाषावैज्ञानिक वेदवेत्ता आचार्य यास्क ने निरुक्त में वेदाङ्गों की प्रवृत्ति के बहाने से समग्र वैदिक वाङ्मय के इतिवृत्त को स्पष्ट कर दिया है–

साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मेभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदञ्च वेदाङ्गानि च। (निरुक्त १.२०)

अर्थात्– प्रथमतः ऐसे ऋषि हुए जो पदार्थों के तत्त्व को यथावत् जानते थे उन साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने अगली पीढ़ी को मन्त्रों का उपदेश किया। इन श्रुतर्षियों ने भी अगली पीढ़ी के लिए ज्ञानोपदेश किया किन्तु श्रुतर्षियों के इस उपदेश को अगली पीढ़ी यथावत् धारण करने में असमर्थ रही अतः वेद और वेदाङ्गों का प्रणयन हुआ।

वेदों के अर्थों को समझने में सहायक छह वेदाङ्ग और छह उपाङ्ग (छह दर्शन) इसी ऋषिप्रणीत ग्रन्थ श्रृंखला में गृहीत होते हैं। प्रधानभूत व्याकरण वेदाङ्गों में अन्यतम है तथा मीमांसादर्शन उपाङ्गों में अन्यतम है। व्याकरण पदशास्त्र है तो मीमांसा वाक्यशास्त्र है। अपेक्षित शर्तों को पूरा करता हुआ पदों का समूह ही वाक्य बनता है अतः पद और वाक्य का जैसा सम्बन्ध है उसी प्रकार व्याकरण और मीमांसाशास्त्र का परस्पर सम्बन्ध भी निर्विवाद, अनिवार्य और स्पष्ट है। प्रस्तुत लेख इस सम्बन्ध को दर्शाने का लघु प्रयास है कि किस प्रकार व्याकरण और मीमांसा दोनों परस्पर सम्बद्ध, सहायक और पूरक हैं।

नहि ज्ञानावयवेन कृत्स्ने ज्ञेये ज्ञानमुत्पद्यते अर्थात् एकविषय के सम्यक् बोध के लिए अन्य विषयों का बोध भी अनिवार्य है और मीमांसामूर्त्ति कुमारिल भट्ट ने भी कहा है–

मीमांसाख्या तु विद्येयं बहुविद्यान्तराश्रिता।
नहि शुश्रूषयितुं शक्या प्रागनुक्त्वा प्रयोजनम्।।
(मी.श्लोकवार्त्तिक १३)

अर्थात् मीमांसा शास्त्र का अध्ययन अनेक शास्त्रों के अध्ययन सापेक्ष होने से बहुत ही परिश्रम साध्य होने के कारण इसका प्रयोजन कथन आवश्यक है। अन्यथा इसके अध्ययन में किसी की प्रवृत्ति ही असंभव है।

प्रथमतः व्याकरणाध्ययन के लिए मीमांसा किस प्रकार अनिवार्यतया सहायक है यह दर्शाया जा रहा है– महाभाष्य के पस्पशाह्निक में कहा है– **रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्** इन पाँच प्रयोजनों में 'ऊह' और 'असन्देह' ये दोनों प्रयोजन मीमांसा शास्त्र के ही हैं। मीमांसकों के अनुसार ऊह का अर्थ है– **प्रकृतौ अन्यथादृष्टस्य विकृतावन्यथा भावः।** प्रकृति में जो अंश अन्य रूप से दृष्ट हो उसी का विकृति में अन्यथा हो जाना **ऊह** कहलाता है। प्रसङ्गतः प्रकृति और विकृति को समझना भी उपयुक्त होगा। श्रौतयागों के तीन भेद हैं– प्रकृतियाग, विकृतियाग, प्रकृतिविकृतियाग। **यत्र समग्राङ्गोपदेशः सा प्रकृतिः** (अर्थ सङ्ग्रह) जहाँ सभी अङ्गों का उपदेश हो उसे प्रकृति कहा जाता है जैसे– दर्शपूर्णमास। **यत्र न सर्वाङ्गोपदेशः सा विकृतिः** (अर्थसङ्ग्रह) यथा– सौर्येष्टि। यहाँ पर ध्यातव्य है कि दर्शपौर्णमास याग के प्रकरण में सभी विधियों का उपदेश कर दिया गया है, यहाँ हवि के निर्वाप (= ग्रहण) के लिये मन्त्र है– **अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि** (तै.सं. १/१/४) विकृतियागों में तत्कर्मोपयोगी विशिष्ट विधान ही किया जाता है। शेष अङ्गों का ग्रहण प्रकृति से ही कर लिया जाता है। जैसे– **सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः** (मै.सं. २/२/२) अर्थात् ब्रह्मवर्चस् (ब्रह्मतेज) की कामना वाला सूर्य देवता के लिए चरु

(मण्डनि:सृत ओदन) को बनावे। इस सौर्य चरु के निर्वाप की आकाङ्क्षा की पूर्त्ति के लिए वाक्य उपस्थित होता है **प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या** अर्थात् जैसे प्रकृतियाग किया वैसे ही विकृति याग करें, यह विषय **ऊह** का है। यहाँ **सूर्याय त्वा जुष्टं निर्वपामि** इस वचन में चतुर्थ्यन्त सूर्य पद की स्थिति **ऊह** से गतार्थ होती है क्योंकि **सूर्याय त्वा जुष्टं निर्वपामि** मन्त्र कहीं भी नहीं पढ़ा है। यह ऊह तीन प्रकार का है- मन्त्र ऊह, साम ऊह, विभक्ति ऊह। प्रकृत उदाहरण में मन्त्रोह के अन्तर्गत नाम (=प्रातिपदिक) का ऊह किया गया है। लिङ्ग ऊह के अन्तर्गत सोमयाग में आप: की स्तुति के लिए मन्त्र प्रयोग होता है **देवीराप: शुद्धा वोढ्वम्** (यजु. ६/१३)। आप: के स्थान में आज्य की स्तुति में स्त्रीलिङ्ग के स्थान में पुल्लिङ्ग का ऊह होगा **देवाऽऽज्य: शुद्धो वहस्व।**

आचार्य भतृहरि ने महाभाष्य दीपिका में विस्तार से इस विषय में विचार किया है। मन्त्र-साम-संस्कार तीनों ऊहों का विचार मीमांसा दर्शन में अत्यन्त विस्तृत रूप में किया गया है। ऊह की साङ्गप्रतिपत्ति के लिए मीमांसा दर्शन का अध्ययन आवश्यक है। ऊह: खल्वपि.....से आगे का महाभाष्य ऊह के सम्यक्‌बोध के बिना कथमपि संगत नहीं होता।

असन्देह का उदाहरण महाभाष्य में **स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाही मालभेत** दिया गया है। अर्थात् कल्पसूत्रकार कहते हैं स्थूलपृषती अग्निवरुण देवता वाली अनड्वाही (वन्ध्या गौ) का आलम्भन करें। यहाँ '**स्थूलपृषती**' शब्द के वास्तविक अर्थ को समझने के लिए व्याकरणशास्त्रीय स्वरविधान का आश्रय लेना पड़ता है। यदि बहुव्रीहि समास होगा तो 'स्थूल' शब्द में लकारोत्तरवर्त्ती अकार उदात्त होगा। **(बहुव्रीहौ प्रकृत्त्या पूर्वपदम्)** और स्थूलपृषती का अर्थ होगा बड़े-बड़े धब्बों वाली। यदि तत्पुरुष (कर्मधारय) होगा तो 'पृषती' शब्द का अन्तिम ईकार उदात्त होगा **(समासस्य)।** 'स्थूलपृषती' शब्द के अर्थ में समास भेद से अर्थ भेद का जो निर्धारण होगा वह स्वर को देखकर होगा इस बात को भाष्यकार ने **स्वरतोऽध्यवस्यति** पद से कहा है। अग्नि वरुण देवता सम्बन्धी आलम्बन मीमांसा का विषय है।

प्रयाजा: सविभक्तिका: कार्या: अर्थात् प्रयाजों को विभक्ति युक्त करना चाहिए। यह वाक्य भी महाभाष्य पस्पशाह्निक का है। यहाँ पर 'प्रयाज' को समझना आवश्यक है। प्रयाज यज्ञाङ्गभूत विशेष आहुतियाँ हैं जो प्रधान याग से पूर्व दी जाती हैं और अनुयाज भी यज्ञ के अन्त में दी जाने वाली आहुतियाँ हैं। **प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे** (अष्टाध्यायी ६/३/६२)। प्रयाजों की संख्या पाँच हैं अनुयाज तीन हैं। यह संख्या प्रकृतियाग दर्शपूर्णमास के अनुसार होती है। विकृति यागों में यह संख्या न्यूनाधिक होती है। प्रयाजों के सविभक्तित्त्व को निम्न प्रकार से समझना चाहिए-

श्रौत अग्नियों के आधान के बाद यजमान को आहिताग्नि कहा जाता है। इस अग्न्याधन के लिए की जाने वाली इष्टि आधेय इष्टि कही जाती है। इस आधेय इष्टि में तो प्रकृतियाग में पठित प्रयाज मन्त्रों को यथावत् पढ़ा जाता है किन्तु किसी विशेष निमित्त से जब पुनराधेय इष्टि की जाती है तब इस पुनराधेय इष्टि में प्रयाज और अनुयाज सविभक्तिक किये जाते हैं। प्रकृतियाग में प्रयाजों के मन्त्र-

समिध: समिधे अग्न आज्यस्य व्यन्तु३वौ३षट्।।१।।
तनूनपादग्न आज्यस्य वेतु३वौ३षट् ।।२।।
इडो अग्न आज्यस्य व्यन्तु३वौ३षट् ।।३।।

आदि क्रम से पाँच हैं इन मन्त्रों के आदि में होता के द्वारा '**ये३यजामहे**' जोड़ लिया जाता है। इन सभी मन्त्रों में सभी पद तो विभक्तियुक्त हैं ही पुन: इनको विभक्ति युक्त करने का आशय कुछ विशेष कथन की ओर संकेत करता है। प्राय: व्याख्याकारों ने महाभाष्य की उक्त पंक्ति की व्याख्या पूर्ण स्पष्ट नहीं की है। यहाँ ध्यातव्य है कि '**विभक्ति**' यह याज्ञिक मीमांसकों की पारिभाषिक संज्ञा है जिसके प्रमाण कौषीतकि ब्राह्मण

(१/४) में तथा शाङ्खायन श्रौतसूत्र में (२/५/१०) इस प्रकार मिलते हैं–

१. **विभिक्तिभिः प्रयाजानुयाजान् यजति। ऋतवो वै प्रयाजानुयाजा ऋतुभ्य एव तत् समाहरति। 'अग्न आ याहिवीतये','अग्निं दूतं वृणीमहे', 'अग्निनाऽग्निः समिध्यते', 'अग्निर्वृत्राणि जङ् घनद्', 'अग्नेः स्तोमं मनामहे', 'अग्नायो मर्त्यो दुवः' इत्येतासामृचां प्रतीकानि विभक्तयः, ता वै षड् भवन्ति । कौषीतकि ब्राह्मण (१/४)**

२. **'अग्निशब्दं चतुर्षु प्रयाजेषु, अनुयाजयोश्च विभक्तय इत्याचक्षते' शां. श्रौतसूत्रा (२/५/१०)** इस सूत्र की व्याख्या में लिखा है– **योऽयमग्निशब्दः षट्सु स्थानेषु, तं विभक्तय इत्याचक्षते याज्ञिकाः।**

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर कौषीतकि ब्राह्मण में उद्धृत छह ऋचाओं के प्रतीकभूत जो छह पद हैं **अग्ने, अग्निम्, अग्निना, अग्निः, अग्नेः, अग्नायः** यही विभक्ति संज्ञक कहलाते हैं। अतः **प्रयाजाः सविभक्तिकाः कार्याः** का अर्थ होगा पुनराधेय इष्टि में प्रयाज के मन्त्रों को विभक्ति संज्ञक अग्ने आदि पदों से युक्त करना चाहिए। यहाँ प्रयाज शब्द अनुयाज का भी उपलक्षक है। पाँच प्रयाज और तीन अनुयाज, कुल आठ हैं और अग्नि आदि पद छह हैं। अतः इन पदों की योजना किस प्रकार की जाये इसका विधान भी शतपथ ब्राह्मण (२//२/३/४) में मिलता है। अन्तिम प्रयाज और अनुयाज में विभक्ति का प्रयोग नहीं किया जाता है ऐसा मीमांसकों का नियम है। इस प्रकार आदि के चार प्रयाज मन्त्रों में और आदि के दो अनुयाज मन्त्रों में क्रमशः **अग्ने** आदि पदों का प्रयोग मन्त्रगत 'अग्ने' पद के पूर्व या पश्चात् किया जाता है। यही प्रयाजों का सविभक्तित्त्व है। महाभाष्य पस्पशाह्निक में ही शब्दानुशासन की विधि के सम्बन्ध में प्रश्न उठाते हुए कहा गया है कि शब्दोपदेश किया जाय अथवा अपशब्दोपदेश? इसके समाधन में परिसंख्या (वर्जनबुद्धि) का आश्रय लिया गया है। मीमांसाशास्त्र की परिसंख्याविधि– **उभयोश्च युगपत्प्राप्तौ इतरव्यावृत्तिपरो विधिः** (अर्थसङ्ग्रह) इस प्रकार है। इसका प्रसिद्ध उदाहरण **'पञ्चपञ्चनखाः भक्ष्याः'** दिया जाता है। जब जिह्वालोलुपतावश मांसाहारी किसी भी प्राणी का मांस खाने के लिए प्रवृत्त होता है तो वहाँ वर्जनबुद्धि का आश्रय लेकर पाँच नाखूनों वाले पाँच प्राणियों शशक,शल्लकी, गोध, खड्गी और कूर्म मात्रा को छोड़कर इनसे भिन्न सभी प्राणियों का व्यावर्त्तन कर दिया जाता है। मीमांसाशास्त्र के आचार्यों ने वाक्यों के अर्थों का प्रतिपादन करने के लिये अनन्यगत्या परिसंख्या का आश्रय लिया है। शब्दानुशासन के सम्बन्ध में भी इस विधि के आश्रयण से शब्दानुशासन किया जा सकता है। यही महाभाष्यकार का तात्पर्य है।

वैयाकरण भूषण सार के धात्वर्थ निर्णय की अन्तिम कारिका के व्याख्यानस्थल पर **'आख्यातार्थो भावना'** इस पक्ष को उठाते हुए तत्रास्थ ग्रन्थ की व्याख्या में दर्पणटीकाकार ने **श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरण-स्थानसमाख्या....**इस मीमांसक न्याय का आश्रय लिया है। श्रुति लिङ्ग वाक्य प्रकरण स्थान और समाख्या मीमांसाशास्त्र में विनियोगविधि के सहकारीभूत छह प्रमाण हैं जिनके आधर पर वाक्यों का सामञ्जस्य बिठाया जाता है। विनियोग मीमांसा शास्त्र का प्राण है।

महाभाष्य पस्पशाह्निक में ही **आहिताग्निरपशब्दं प्रयुज्य प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेत्** ऐसा कहा है अर्थात् आहिताग्नि याग में अपशब्द का प्रयोग करने पर प्रायश्चित्त स्वरूप सरस्वती देवता की इष्टि करे। यहाँ पर कथित आहिताग्नि वह है जो श्रौत अग्नियों की स्थापना करके यावज्जीवन अग्निहोत्र का अनुष्ठान करता है और सरस्वती इष्टि मीमांसाशास्त्र से सम्बद्ध है। साधरणतया किये जाने वाले अग्निहोत्र के यजमान को आहिताग्नि नहीं कहा जाता है। अतः यह विषय भी मीमांसाशास्त्र से ही गम्य है।

जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचमन्यतरस्याम्। (अष्टा.-१/२/५७) इस सूत्र में मीमांसकों की शब्दवाच्य जाति का ग्रहण है यथा- **गोशब्दस्य गोत्त्वम्** (अर्थसङ्ग्रह)

लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रोण धर्मनियमः यह वार्त्तिक पस्पशाह्निक का है। यहाँ **धर्माय नियमः धर्मनियमः** की व्याख्या में व्याख्याकार कैयट ने **लिङादिविषयेण नियोगाख्येन धर्मेण प्रयुक्तः** ऐसा कहा है। और नागेशादि व्याख्याकार भी इसी प्रकार का व्याख्यान करते हैं। यहाँ विचारणीय है कि मीमांसाशास्त्र जो कि सर्वात्मना धर्म का विचार करता है उसमें लिङ् लोट् तव्यत् आदि प्रत्ययों से बोधित भावनाद्वय (शाब्दी और आर्थी) स्वर्गेच्छु पुरुष को धर्मानुष्ठान यागादि में प्रवृत्त करती हैं। अतः प्रस्तुत वार्त्तिक की व्याख्या के लिए मीमांसाशास्त्र का प्रकाश आवश्यक है। **नियोगाख्येन** का अर्थ है विनियोग नाम वाले धर्म के द्वारा। यह विनियोग संहिताओं ब्राह्मणग्रन्थों और श्रौतसूत्रों में यथावत् उपलब्ध होता है तथा इसका उपयुक्त निर्णय मीमांसा (द्वादशलक्षणी) के द्वारा किया जाता है।

इसी प्रकार मीमांसा दर्शन में भी अनेक स्थलों पर वाक्यार्थ का निर्णय अनिवार्यतया व्याकरणशास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर किया जाता है जिसका विवेचन यथा समय किया जायेगा।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर स्पष्ट है कि वैदिक वाङ्मय परस्पर सुगुम्फित है एकशास्त्र को छोड़कर दूसरे का सम्यग्बोध अत्यन्त दुष्कर है। प्रस्तुत लेख इसका लघु निदर्शन मात्र है।

शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

शेष भाग पृष्ठ-२१ का...

कहा कि हम सब अग्निहोत्र क्यों न करें? पूरे परिवार ने यज्ञ किया और २० मिनट के अन्दर एम.आई.सी. गैस का दुष्प्रभाव समाप्त हो गया। ३ दिसम्बर १९८५ को श्री एम.एल. राठौर का जीवन भी अग्निहोत्र ने ही बचाया था। उनकी गली में सैकड़ों लोग मरे। परन्तु ये नित्य यज्ञ करते थे। जिसके परिणाम स्वरूप सम्पूर्ण परिवार गैस के दुष्प्रभाव से मुक्त हो गया। इस घटना से आज भी वह स्थान दुःखी है। वहाँ अनेक रोग आज भी फैले हुए हैं परन्तु यज्ञ करने वाले परिवारों में इन समस्याओं का लेशमात्र भी अंश नहीं है। पाठक इसकी जानकारी स्वयं कर सकते हैं। इससे बड़ा लाभ यज्ञ का और क्या हो सकता है? महात्मा प्रभु आश्रित जी कहते हैं कि मैं एक घर में गया। वहाँ पर एक आम का पेड़ था। उस पर वर्षों से कोई फल नहीं आता था परन्तु जब मेरे कहने से वहाँ उस परिवार ने निरन्तर यज्ञ किया तो अग्रिम वर्ष में वृक्ष फल से लदा था। जिससे यह सिद्ध है कि यज्ञ से न केवल हमें अपितु समस्त जगत् के प्राणियों को लाभ होता है। यज्ञ से सुन्दर परोपकार का माध्यम और क्या हो सकता है?

अन्त में यही कहूँगा कि अगर हम अपने पर्यावरण को सुरक्षित एवं शुद्ध करना चाहते हैं तो यज्ञ अवश्य करना होगा। जब यज्ञ के माध्यम से भयंकर गैसों का विनाश हो सकता है तो फिर पर्यावरण शुद्धि का हेतु यज्ञ है। इस तथ्य को स्वीकार करने में क्या समस्या? हमें यज्ञ पर और गहन शोध की आवश्यकता पर तथा इसके प्रचार-प्रसार पर ध्यान देना होगा। सरकार भी यदि इस ओर प्रयास करे तो शीघ्र ही पर्यावरण की समस्या का समाधान हो सकता है। मैंने शास्त्रीय प्रमाणों की अपेक्षा अनुभव तथा प्रयोगों को स्थान दिया है क्योंकि शास्त्रीय वचनों की अपेक्षा उदाहरणों से समझना आसान है। आगे पाठक ही निर्णायक हैं।

श्रीभगवानदास आदर्श संस्कृत,
महाविद्यालय, हरिद्वार

संघे शक्तिः कलौ युगे

ब्र. शिवदेव आर्य

एकता उस महान् शक्ति का नाम है, जिसमें बिखरी हुई सभी शक्तियाँ एकत्र हो जाती हों। वर्तमान युग **'संघे शक्तिः कलौ युगे'** (महाभारत) की भावनाओं के अभाव में पथभ्रष्ट हो रहा है। आज की माँग है संघठन व एकता, जो एक साथ कदम से कदम मिलाते हुए चलने का सामर्थ्य रखती है। ऐसा कोई भी काम नहीं है, जो बिना एकता के सम्पन्न हो सकें। एकता के अभाव में हम-सब की तथा राष्ट्र की स्थिति शंकास्पद बनी हुई है। कोई किसी के साथ मिलकर नहीं चलना चाहता। सब स्वयं के स्वार्थों को सोचकर दूसरों को कष्ट देते हुए आगे बढ़ने का प्रयास कर रहें हैं। एक-दूसरे से घृणा करते हुए पैर खींच कर अपार उन्नति के शिखर पर पहुँचने का प्रयास करते हैं परन्तु सफल नहीं हो पा रहे हैं। होगे भी क्यों ? जब परमपिता परमेश्वर हमें स्पष्ट निर्देश करता है कि - हम सब मिलकर साथ-साथ चलने वाले होवें। जब हम ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन करेंगे तो साफल्यता को कैसे प्राप्त करेंगे ? इन्हीं भावों को प्रकट करते हुए ऋग्वेद के दशवें मण्डल में उल्लेख करते हैं कि-

संङ्गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानानामुपासते।।
(ऋग्वेद-१०.१९१.२)

अर्थात् हे मनुष्यों ! तुम परस्पर मिलकर चलो, परस्पर मिलकर बात करो, तुम्हारे मन एक समान होकर ज्ञान को प्राप्त करें। जिसप्रकार पूर्ण विद्वान् ज्ञानी जन सेवनीय प्रभु को जानकर उसकी उपासना करते आये हैं, वैसे ही तुम भी किया करो।

समानो मन्त्रः समितिः समानीसमानं मनः सह चित्तमेषाम्। समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।। **(ऋग्वेद-१०.१९१.३)**

अर्थात् इन सब मनुष्यों का विचार समान हो और चित्त एक साथ समान उद्देश्य वाला हो। हे मनुष्यों ! मैं परमेश्वर तुम्हें समान विचारों वाला करता हूँ और समान खान-पान और यज्ञ भावना से युक्त करता हूँ।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।
(ऋग्वेद-१०.१९१.४)

अर्थात् हे मनुष्यों ! तुम्हारे संकल्प समान हों, तुम्हारे हृदय परस्पर मिले हुए हों, तुम्हारे मन समान हों, जिससे तुम लोग परस्पर मिलकर एक होकर रहो।

एकता में अपरिहार्य बल होता है। परिवार यदि संगठित होगा तो वह निश्चय ही ऐश्वर्य की अपार सम्पत्ति को प्राप्त करेगा। यदि समाज संगठित होगा तो समाज उन्नति के पथ पर आरुढ़ होगा और यदि राष्ट्र का प्रत्येक जनमानस संगठित हो जाए तो निश्चित ही इस राष्ट्र का चरमोत्कर्ष होगा। क्योंकि महाभारत में कहा गया है कि - यदि राष्ट्र में एकता, अखण्डता का आभाव होगा तो निश्चित ही निरन्तर नाश, त्राहीमाम् हानि ही हानि सर्वत्र प्रतीत होगी। इसी बात को महाभारतकार इस प्रकार से प्रस्तुत करते हैं कि-

न वै भिन्ना जातु चरन्ति धर्मम्, न वै सुखं प्राप्नुवन्तीह भिन्नाः। न वै भिन्ना गौरवं प्राप्नुवन्ति, न वै भिन्नाः प्रशमं रोचयन्ति।। (महा. उद्योगपर्व-१५.६९)

अर्थात् जो परस्पर भेद-भाव रखते हैं, वे कभी भी धर्म का आचरण नहीं करते, वे सुख भी नहीं पाते, उन्हें यश प्राप्त नहीं होता तथा उन्हें शान्ति की वार्ता भी नहीं सुहाती।

एक और एक मिलकर ग्यारह होते हैं। मामूली तिनकों को मिलाकर जब रस्सा बन जाता है तब मदमस्त हाथी को भी बाँधने में सक्षम हो जाता है। पानी की एक अकेली बूंद अग्नि में पड़कर स्वयं का अस्तित्व समाप्त

कर देती है, परन्तु जल की अनन्त बूंदें मिलकर प्रचण्ड़ अग्नि का भी अस्तित्व विच्छिन्न कर देती है। अग्नि की एक चिंगारी तो एक फूंक मारकर बुझा दी जा सकती है किन्तु संगठित भयंकर ज्वाला विशाल भवन को भी भूमि में विलीन कर देती है। क्योंकि महाभारत में भी कहा गया है कि-

महानप्येकजो वृक्षो बलवान् सुप्रतिष्ठितः।
प्रसह्य एव वातेन सस्कन्धो मर्दितं क्षणात्।।
अथ ये संहिता वृक्षाः सङ्घशः सुप्रतिष्ठिताः।
तेहि शीघ्रतमान् वातान् सहन्तेऽन्योन्य संश्रयात्।।
(महा. उद्योगपर्व १५.६२-६३)

अर्थात् एक अकेला वृक्षा महान्, बलवान् और सुदृढ़ होने पर भी वायु के द्वारा बलपूर्वक स्कन्ध सहित उखाड़ कर फेंका जा सकता है, परन्तु जो वृक्ष मिलकर संगठित रूप से रहते हैं, वे एक-दूसरे के आश्रय से तीव्र आँधी को सरलता व सहजता से सह लेते हैं।

संगठन की शक्ति को हमें यदि देखना हो तो हमारे हाथ से अच्छा और कोई उदाहरण नहीं होगा। हमारे हाथ में पाँच अंगुलियाँ होती हैं। कोई छोटी तो कोई बड़ी पर कार्य कभी भी एक अंगुली से सम्पन्न नहीं होता। दो या दो से अधिक अंगुलियों की एकता की आवश्यकता होती है और यदि एक भी अंगुली संगठन का प्रतिकार करती है तो समझो कार्य सम्पन्नता को प्राप्त नहीं हो सकेगा। इसीलिए हम सब को स्वयं से निश्चय करते हुए हरिओम पँवार की इस पंक्ति - **'मैं टूटा तो सब टूटेगा'** को मुहुर्मुहु स्मृत कर संगठन का सदा अनुसरण करना चाहिए अर्थात् एकता को सदैव बनायें रखें।

'अकेला चना क्या भाडफोडेगा' इस उक्ति को यथा रूप देते हुए महाभारतकार लिखते हैं कि-

एवं मनुष्यमेकं गुणैरपि समन्वितम्।
शक्यं द्विषन्तो मन्यते वायुर्द्रुममिवैकजम्।।
अन्योन्य समुपष्टम्भ्यादन्योन्यापाश्रयेण च।
ज्ञातयः सम्प्रवर्धन्ते सरसीवोत्पलान्युत।।
(महा. उद्योगपर्व-१५.७४/७५)

अर्थात् एक अकेला व्यक्ति चाहे कितने ही गुणों से युक्त हो परन्तु फिर भी शत्रु उसे पराजित करने में सम्भव समझते है। एक-दूसरे के प्रति मेल होने से एक-दूसरे के सहारे से परिवार वाले इस वृद्धि को प्राप्त होते है। जैसे तालाब में कमल।

कठोपनिषद् में संगठन को रथ की उपमा दे कर यमराज नचिकेता को उपदेश देते हुए कहते हैं कि- 'इन्द्रियाँ घोडे हैं, मन लगाम है, बुद्धि सारथी है और आत्मा रथ का स्वामी है। घोडों को लगाम के अधीन रहना चाहिए। लगाम को सारथी के और सारथी को मालिक के। संगठन का यही मूल मन्त्र है।'

अब यदि हम इतिहास के पन्नों में दृष्टिपात करें तो हमें ज्ञात होगा कि - १५ अगस्त १९४७ को यदि हम स्वतन्त्र हुऐ हैं तो वह हम सब के संगठन व एकता का ही परिणाम है। उस स्वतन्त्रता संग्राम में यदि आहुति देने के लिए सभी एकत्र न होते तो शायद हम स्वतन्त्र स्वराज्य में स्वविचार प्रस्तुत न कर सकते। अगर स्वामी रामदेव व अन्नाहजारे आदि देशभक्त भ्रष्ट सरकार के प्रति स्वयं को जागरुक न करते तो शायद हम सरकार के यर्थाथ स्वरूप को न जान पाते।

आज तक के इतिहास में ऐसा कोई अच्छा वा बुरा काम नहीं है, जो बिना संगठन व एकता से सम्पन्न न हुआ हो अर्थात् एक नये परिवर्तन के लिए संगठन व एकता की नितान्त अनिवार्यता होती है। एकता को प्राप्त करके देश को एक नई दिशा दें।

पटेल जी कहते हैं कि-**'अब जात-पात, ऊँच-नीच तथा सम्प्रदाय के भेदभाव को भूलकर सब एक हो जाओं। मेल रखिए और निडर बनिए।'**

महाभारतकार महर्षि वेदव्यास जी लकड़ी में अग्नि की एकता का विवेचन करते हुए उद्योगपर्व में लिखते हैं

कि- **अग्निस्तेजो महल्लोके गूढस्तिष्ठति दारुषु।**

न चोपयुङ्क्ते तद् दारु यावन्नोद्दीप्यते परैः।।

स एव खलु दारुभ्यो यदा निर्मथ्य दीप्यते।

तद् दारु च वनं चान्यन्तिर्दहत्याशु तेजसा।।

(महा. उद्योगपर्व-१७.४०/४१)

अर्थात् इस संसार में अग्नि ही सबसे तेजस्वी है। वह लकड़ी में छिपी हुई रहती है। वह उसे तब तक नहीं जलाती, जब तक कि मनुष्य लोग उस लकड़ी को प्रदीप्त न करें अर्थात् न जलायें पर अग्नि को जब लकड़ियों को एकत्रित करके सम्पूर्ण वन को और दूसरे अन्य पदार्थों को भी जलाकर भस्म कर देती है।

जब मनुष्य के मन में एक के लिए सब और सबके लिए एक की भावना उदित होगी तो वह व्यक्ति हो या परिवार, समाज हो अथवा राष्ट्र, उन्नति के उच्चस्तर को प्राप्त करेगा। आओं! हम सब मिलकर **सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग भवेत्** की भावना को अपने अन्तःकरण में स्थापित कर **'संघे शक्ति कलौ युगे'** के उद्घोष को समझते हुए संगठन शक्ति को प्राप्त करें।

गुरुकुल पौंधा, देहरादून

कीदृशं रामराज्यं पुरा भारते

❑ यज्ञवीरः

गीयतां हे कवे! मामके भारते,
कीदृशं रामराज्यं पुरा भारते।

कीदृशी देववाणी प्रसृता पुरा,
वेदवाणीमधीत्य मुदा मानवाः।
वैदिकीरीतिनीत्योः सदा पालकाः,
सज्जनाः शासकाः सेवकाः भारते।।१।।
गीयतां हे कवे!.......

रामराज्ये सदा शान्तिरत्राभवत्।
वञ्चनं लुण्ठनं त्रोटनं नाभवत्।
नानृतं मानवैरादृतं कर्हिचित्,
ईदृशं रामराज्यं पुरा भारते।।२।।
गीयतां हे कवे!.......

पूजिताः योषितो वै सदा श्रद्धया,
पूजनं यत्र नित्यं वधूनामभूत्।
शास्त्रचर्चास्थले तास्तु निर्णायिकाः।
ईदृशं रामराज्यं पुरा भारते।।३।।
गीयतां हे कवे!.......

धर्मपारायणाः सत्यनिष्ठाः प्रजाः,
सुप्रजापालकाः न्यायनिष्ठाः नृपाः।
मन्त्रिणो देशभक्ताः सदा तत्पराः,
ईदृशं रामराज्यं पुरा भारते।।४।।
गीयतां हे कवे!.......

व्यासभासौ तथा कालिदासो महान्,
भारतं रामकाव्यं सुधाप्यायितम्।
काव्यकाराः सुकाव्यं मुदा चक्रिरे,
ईदृशं रामराज्यं पुरा भारते।।५।।
गीयतां हे कवे!.......

देवभूमिर्वनैरावृताः सर्वतः,
होमधूमैर्धरा व्यापृताः नित्यशः।
वेदमन्त्रैः सुगुञ्जायमानाः दिशः,
ईदृशं रामराज्यं पुरा भारते।।६।।
गीयतां हे कवे!.......

-गुरुकुल-पौन्धा, देहरादूनम्

रामायण काल में अग्निहोत्र सन्ध्योपासनादि का वर्णन

आचार्य यज्ञवीर

उस काल में आर्यजनों की पूजा पद्धति का क्या स्वरूप रहा होगा? इस विषय पर वाल्मीकि कृत रामायण के अन्त: साक्ष्यों पर आधारित विचार प्रस्तुत किये जा रहे हैं। उस समय लोग प्रात: सांय सन्ध्योपसना अग्निहोत्र करते थे। इसका वाल्मीकि रामायण में बहुलता से वर्णन उपलब्ध होता है-श्री विश्वमित्र जी ने राम लक्ष्मण से कहा है- **'स्नाताश्च कृतजप्याश्च हुतहव्या नरोत्तम'**

(१८ सर्ग २३ वालकाण्ड)

अर्थात् हम लोग हे नरोत्तम स्नान किये हुए एवं जप किये हुए होंगे। हुतहव्या शब्द विशेष रूप से हवन योग्य पदार्थो से हवन करने का द्योतक है। उसी प्रकार अयोध्या काण्ड में भी वर्णन मिलता है कि प्रात:कालीन सन्ध्या के उपरान्त आगे बढ़े-**तथैव गच्छतस्तस्य व्यापायद्रजनी शिवा।**

उपास्य तु शिवां सन्ध्या विषयान त्यगाहत।।२।।

(सर्ग ४९ अयोध्या काण्ड)

अर्थात् उसी भाँति चलते हुए श्री रामचन्द्र की वह कल्याणमयी रात बीत गयी। प्रात:काल की शुभ सन्ध्या करके आगे दूसरे देश में गये। इससे अगले ही सर्ग में फिर वर्णन करते हुए महर्षि वाल्मीकि लिखते हैं कि-

ततश्चीरोत्तरासङ्गः सन्ध्यामन्वास्य पश्चिमाम्।
जलमेवाददे भोज्यं लक्ष्मणेनाहृतं स्वयम्।।४८।।

(सर्ग ५० अयोध्या काण्ड)

अर्थात तदनन्तर श्री रामचन्द्र ने चीर ओढ़ (धारण) करके सायंकालीन सन्ध्योपसना की तथा लक्ष्मण द्वारा लाया हुआ जल ही ग्रहण किया। इस अयोध्या काण्ड के ५४ वे सर्ग में फिर श्री रामचन्द्र जी ने लक्ष्मण को कहा-

प्रयागमभित: पश्य सौमित्रे धूममुत्तमम्।
अग्नेर्भगवत: केतुं मन्ये संहितो मुनि:।।५।।

(सर्ग ५४ अयोध्या काण्ड)

प्रयाग के पास भगवान् अग्नि की ध्वजा का सुगन्धित उत्तमधूम को हे सुमित्रानन्दन लक्ष्मण! तुम देखो, इससे स्पष्ट प्रतीत होता है मुनिवर यहीं है अन्यत्र कहीं बाहर नहीं गयें हैं।

इसी भाँति भरत शत्रुघ्न को भी हवन करने तथा जप करने का वर्णन इसी काण्ड के १०५ वें सर्ग में उपलब्ध होता है-

'रजन्यां सुप्रमातायां भ्रातरस्ते सुहृद्वृताः।

मन्दाकिन्यां हुतं जप्यं कृत्वा राममुपागमत्।।२।।

(सर्ग १०५ अयोध्याकाण्ड)

अर्थात् रात्रि के बीत जाने पर वे भाई मित्रों के साथ मन्दाकिनी नदी के किनारे पर हवन एवं जप करके श्री रामचन्द्र जी के पास आये।

इसी प्रकार बाल काण्ड में भी ऋषिमुनियों द्वारा अग्निहोत्र करने का वर्णन दिखाई देता है। महर्षि वाल्मीकि लिखते है-

वासं चक्रुः मुनिगणाः श्रोणाकूले समाहिताः।
तेऽस्तं गते दिनकरे स्नात्वा हुतहुताशनाः।।२०।।

(सर्ग २० बालकाण्ड)

अर्थात् श्रोणा नदी के किनारे मुनिगणों ने वास किया। उन्होने सूर्यास्त हो जाने पर स्नान करके अग्निहोत्र किया।

उपरिलिखित सभी उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि रामायण काल में वेद प्रतिपादित यज्ञादि का अनुष्ठान आर्यजन करते थे यह तथ्य किसी टीका टिप्पणी की अपेक्षा नहीं रखता। कैसे आश्चर्य की बात है कि भगवान् राम स्वयं सन्ध्योपासना एवं अग्निहोत्र करे किन्तु उनके भक्त उनकी मूर्ति पूजा करके अपने आपको कृतकृत्य समझे।

भगवान् बुद्ध के भक्तों ने उनके आदेशों पर उनकी मूर्ति की पूजा आरम्भ की। परन्तु बौद्ध तो नास्तिक थे उनके समक्ष उनका कोई उपास्य देव नहीं था। अत: यदि उन्होने किया तो यह किया जाना अस्वाभाविक नहीं है। दु:ख तो राम के भक्तों पर हैं कि जिन्होंने आस्तिक होते हुए भी श्री राम के आदर्शों को न अपना कर उनके स्थान पर उनकी मूर्तिपूजा प्रचलित की। तुलसीदास जी ने अपनी निजी कल्पना के आधार पर रामचरित मानस में कुछ स्थानों पर मूर्तिपूजा का वर्णन किया है। वह स्वयं वैष्णव थे। अत: ये स्थल उनके अपने ही विचारों के प्रतिबिम्व हैं। न सीता जी स्वयंवर के समय किसी देवी की पूजा की और न ही श्री राम ने सेतुबन्ध के अवसर पर रामेश्वरम् में शिवलिंग की स्थापना एवं पूजा की वाल्मीकीय रामायण में केवल इतना वर्णन है कि लंका से लौटते समय श्री राम ने सीता से विमान में बैठे-बैठे संकेत से कहा कि यहाँ महादेव की कृपा से हमने समुद्र पर पुल बांधा था।

एतत्तु दृश्यते तीर्थं सागरस्थ महात्मनः।
सेतुबन्ध इति ख्यातं त्रैलोक्यपरिपूजितम्।।२०।।

एतत्पवित्रं परमं महापातक नाशनम्।
अत्र पूर्णं महादेवः प्रसादमकरोद् विभुः।।२१।।
(युद्धकाण्ड सर्ग ११५)

अर्थात् यह बड़े समुद्र का तट दिखाई पड़ रहा है। इसे सेतु कहते हैं, यह तीनों लोकों में प्रसिद्ध है। यह परम पवित्र स्थान है, यहाँ महापातकों का प्रायश्चित्त करते है। यहाँ ही पहले सर्वत्र व्यापक (विभु) सब देवों में बड़े महादेव परमात्मा ने हम पर कृपा की थी। उपरि लिखित श्लोकों में कहीं भी शिवलिंग स्थापना और उसकी पूजा का वर्णन नहीं है। सम्भवत: महादेव शब्द जिसका विशेषण विभु है का सर्वव्यापक देवों में महान् प्रभु न समझ कर शिवलिंग स्थापना तथा उसकी पूजा की कल्पना श्री तुलसीदास ने करली प्रतीत होता है।

वैसे भी मूर्तिपूजा और अवतारवाद का आधार आधेय सम्बन्ध है परन्तु वाल्मीकीय रामायण के महानायक श्रीराम का ईश्वरावतार होना भी सर्वथा असिद्ध है। सम्पूर्ण रामायण में श्री राम को कहीं भी ईश्वरावतार नहीं लिखा हाँ कहीं कहीं उन्हें विष्णु के समान अथवा विष्णु का अंश अवश्य लिख दिया है। किन्तु यदि हम विचार पूर्वक इन स्थलों के देखें तो ये पीछे से मिलाये प्रतीत होते हैं अन्यथा स्वयं भगवान् राम ने अनेक स्थानों पर अपने आप को मनुष्य ही घोषित किया है। अत: आधाराधेयभाव से उनकी मूर्ति बनाकर पूजा करना अनुचित है। उनकी भाँति ही हमें भी सन्ध्योपासना, जप और अग्निहोत्र ही करने चाहिए। श्री राम ईश्वर के अवतार नहीं थे जैसा कि हमारे पौराणिक भ्राता भ्रमवश मानते हैं, वे कदम्ब के वृक्ष से पूछते हैं-

अस्ति कश्चित् त्वया दृष्टा सा कदम्बप्रियाप्रिया।
कदम्ब! यदि जानीषे शंस सीतां शुभाननाम्।।
(वा.रामायण आरण्यकाण्ड-७०.१२)

अर्थात् हे कदम्ब के वृक्ष कदाचित् तूने कदम्ब से प्रेम करने वाली मेरी प्रिया शुभ मुख वाली सीता देखी हो और तू जानता हो तो बता।

इस प्रकार जड़ वृक्ष से अज्ञों की भाँति सीता को पूछते फिरना यह सिद्ध करता है कि श्री राम ईश्वरावतार नहीं परन्तु एक मानव हैं जो महामानव कहलाये।

सुग्रीव राम को सांत्वना देते हुए कहते हैं-

किं त्वयातप्यते घोर यथान्य प्राकृतस्तथा।
(वा.रामा.युद्धकाण्ड-२.२)

अर्थात् हे राम! क्यों तू साधारण मनुष्य की भाँति दु:खित हो रहा है।यदि श्री राम ईश्वर अवतार होते तो ऐसी जनसाधारणवत् दु:खी नहीं होते। सुग्रीव जैसे को सान्त्वना देने का अवसर न आता।

करिष्यामि यथार्थ ते काण्डोर्वचनर्मुत्तमम्।
धर्मीष्टं च यशस्यं च स्वर्ग्य स्यात्तु फलोदयम्।।
(युद्धकाण्ड-१८.३२)

अर्थात् राम कहता है कि मैं काण्डु का वचन पालन

करूँगा, वह धर्मानुकूल यशोवर्धक एवं स्वर्गदायक है।

इस प्रकार राम को स्वर्ग की इच्छा रखना, उसे ईश्वरावतार असिद्ध करता है।

लक्ष्मण को शक्ति बाण लगने पर राम विलाप करते हुए कहते हैं–

'यथैव मां वनं यान्तं अनुयातो महाद्युतिः।
अहमप्यनुयास्यामि तथैवेनं यमक्षयम्।।
(वा.राम. युद्धकाण्ड–४९.१८)

अर्थात् हे लक्ष्मण! जैसे वन जाते हुए तू मेरे साथ चला वैसे ही यमालय जाते हुए मैं तेरे साथ चलूंगा। इस प्रकार का मानवसुलभ दुराग्रह प्रतीत होता है। यह आग्रह ही राम को ईश्वरावतार असिद्ध करता है।

श्री राम सुग्रीव को समझाते हुए कहते हैं कि– **'मा वीरमार्ये विमतिं कुरुष्व लोको हि सर्वो विहितो विद्यात्रा। तथैव सर्वं सुखदुःखयोगं लोकोऽब्रवीत् तेन कृतं विधात्रा।।**

अर्थात् हे वीर! भार्या के सम्बन्ध में मैं विमति मत कर, समस्त संसार विधाता ने रचा है, उस विधाता की ओर से सुखदुःख का योग होता है। यहाँ श्री राम यदि ईश्वरावतार होते तो विधाता का स्मरण क्यों करते अतः वे अवतार नहीं हैं और अवतार नहीं है तो उनकी मूर्ति भी नहीं पूजी जा सकती। इससे स्पष्ट है कि रामायणकाल के धार्मिक सिद्धान्त पूर्णतः वैदिक थे।

आचार्य यज्ञवीर,गुरुकुल पौन्धा, देहरादून

संस्कृत-शिक्षणम्

– ब्र. सत्यकामार्यः

अयि सुधियः पाठकाः! संस्कृतस्य शिक्षणं न कठिनम्। संस्कृतं तु अतीव सरलं मधुरं च वर्त्तते। आगच्छत वयं प्रयोगं कृत्वा पश्यामः। एतस्मिन् विभागे प्रत्यङ्कं व्यावहारिकज्ञानाय सरलानि कानिचन वाक्यानि सरला नियमाश्च प्रदीयन्ते। अत्र विचार्य पठित्वा भवन्तोऽपि संस्कृतेन व्यवहारं कर्तुमर्हन्ति।

मांगते हुए पुरुष को दान दो।	याचमानाय पुरुषाय दानं ददातु।
गाँव जाते हुए बालक को रास्ता बताओं।	ग्रामं गच्छन्तं बालकं मार्गं ज्ञापयतु।
दान देते हुए मनुष्य को देखकर कंजूस दुःखी हुआ।	दानं यच्छन्तं मनुष्यं दृष्ट्वा कृपाणोऽदुःखयत्।
खेलते हुए बुद्धिमान् लड़को के साथ खेलाकर।	क्रीडद्भिः बुद्धिमद्भिः बालकैः सह क्रीड।

नियमः –

''**लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे**'' लटः स्थाने शतृशानचौ प्रत्ययौ भवतः अप्रथमासमानाधिकरणे अर्थात् वर्तमानकाले प्रत्ययौ भवतः यथा – पठते बालकाय मोदकान् ददातु। शतृप्रत्ययः परस्मैपदेभ्यः धातुभ्यः भवति। शानच् प्रत्ययः आत्मनेपदेभ्यः धातुभ्यः भवति। शतृशानच्प्रत्ययान्तौ शब्दौ विशेषणशब्दौ स्तः। पुल्लिङ्गे शतृप्रत्ययान्तस्य रूपाणि भवत्वत्, स्त्रीलिङ्गे नदीवत् नपुंसकलिङ्गे जगत्वत्।

धातुरूपम्	**एकवचनम्**	**द्विवचनम्**	**बहुवचनम्**
डुदाञ् दाने (देना)	दत्ते	ददाते	ददते
उभयपदी	दत्से	ददाथे	दद्ध्वे
लट् लकार:	ददे	दद्वहे	दद्महे

शब्दकोशः					
– स्वः	स्वर्ग।	**असुरः**	राक्षस।	**स्वर्गः**	स्वर्ग।
नाकः	स्वर्ग।	**दैतेय**	राक्षस।	**त्रिदिवः**	स्वर्ग।

हिन्दी गद्य की शास्त्रीय और रोचक शैली के पुरस्कर्त्ता स्वामी दयानन्द सरस्वती

प्रमा शास्त्री, एम.ए. रिसर्च स्कॉलर,

भारतीय इतिहास में १९ वीं शताब्दी का समय महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इतिहासकारों ने इसे पुनर्जागरण-काल कहा है। इस काल में अनेक महापुरुषों का जन्म हुआ, जिन्होंने धर्म, समाज, संस्कृति तथा राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रों में नवचेतना का संचार किया। भारत के पुनर्जागरण तथा राष्ट्रीय-आन्दोलनों के सन्दर्भ में उनकी गौरवशालिनी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। तत्कालीन भारत में धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक सभी क्षेत्रों में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन लाने में वे सफल हुए। देशवासियों में व्याप्त निराशा, पराधीनता तथा हीनभावना को दूर कर उन्होंने आत्मगौरव एवं स्वाभिमान को जागृत किया। उनके सोचने तथा कार्य करने का ढंग उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के सुधारकों से सर्वथा भिन्न था अपने नवजागरण के आन्दोलन का नेतृत्वा उन्होने भारतीय तत्त्वचिन्तन तथा वैदिक दर्शन के आधार पर किया।[१] अपने जागृति सन्देश को फैलाने के लिए उन्होंने अविश्रान्त प्रचार, भाषण और लेखन का सहारा लिया। राष्ट्र-निर्माण और पुनर्जागरण के कार्यक्षेत्र में स्वामी दयानन्द को अपने सर्वतोमुखी व्यक्तित्व के साथ देखा जा सकता है। मानव-जीवन का कोई भी पक्ष उनकी दृष्टि से ओझल नहीं हुआ।

हिन्दी भाषण और लेखन का संकल्प :-

स्वामी दयानन्द अपने गुरू दण्डी स्वामी विरजानन्द जी से लगभग ढ़ाई वर्ष अध्ययन करके १८६० ई. में कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण हुये। तब से १८८३ में निर्वाण प्राप्त करने तक बीस वर्ष के कार्यकाल में प्रारम्भिक दस वर्षों में वे केवल कौपीनमात्रधारी नि:संग और निर्लेप होकर परमहंसावस्था में ही विचरते रहे। इन प्रारम्भिक दस वर्षों में उन्होंने जो कुछ भी उपदेश कार्य किया, वह सब संस्कृत भाषा में ही किया। और संस्कृत में ही ४,५ छोटे-छोटे ग्रन्थ प्रकाशित किये। १८७३ ई. में कलकत्ता में बाबू केशवचन्द्र सेन ने स्वामी जी को संस्कृत के बदले भाषा में व्याख्यान देने का परामर्श दिया था। इसी प्रकार वस्त्रधारण करने का भी सेन महाशय तथा पण्ड़ित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने स्वामी जी को परामर्श दिया। स्वामी जी ने दोनों परामर्शों को स्वीकार कर लिया। तदनुसार वस्त्र धारणपूर्वक भाषा में व्याख्यान देने का शुभारम्भ स्वामी जी ने निश्चय किया तो कई सुधीजनों ने टोका कि-'आप ऐसा न करें, परन्तु स्वामी जी नहीं माने और कहा कि जब हम किसी को कुछ समझाते हैं तो संस्कृत में होने के कारण पण्डितगण साधारण लोगों को उसका उल्टा ही समझा दिया करते है। इसएि अब हम 'भाषा' में ही बोलेंगे। प्रारम्भ में सैकड़ों शब्द ही नहीं, प्रत्युत वाक्य के वाक्य संस्कृत में बोले जाते थे। क्योंकि 'भाषा' (हिन्दी) बोलने और लिखने का अभ्यास नहीं था।[२]

बाद में धीरे-धीरे स्वामी जी को हिन्दी अत्यनत ही परिमार्जित, परिशुद्ध, प्रवाहमयी और मुहावरेदार हो गयी। हिन्दी में लिखा उनका पहला महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' १८७५ ई. में काशी से प्रकाशित हुआ। सन् १८७५ ई. के पश्चात् १८८३ में निर्वाण प्राप्त करने तक स्वामी जी ने अपनी अधिकांश रचनाएँ हिन्दी में ही लिखीं और प्रकाशित की। संस्कृत शिक्षण के लिए पाणिनीय-व्याकरण के सूत्रों का विषयक्रम से हिन्दी में ही व्याख्या करके 'वेदाङ्ग प्रकाश' शीर्षक से १४ भागों मे प्रकाशित किया। ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के भाष्य और

व्याख्या का महत्त्वपूर्ण कार्य संस्कृत तथा हिन्दी दोनों भाषाओं में लेखन-सम्पादन तथा प्रकाशन का बहुपरिश्रमसाध्य कार्य स्वामी जी के द्वारा सम्पन्न हुआ।

राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से उन्होने जो कार्य किये, उनमें राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिये किये गये उनके प्रयत्न बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। उन्नीसवीं शदी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी और संस्कृत भाषाओं में जितने विशाल साहित्य का सृजन स्वामी दयानन्द ने किया, उतना अन्य विद्वान् या साहित्यकारों ने नहीं किया। स्वयं गुजराती तथा संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् होते हुए भी उन्होंने हिन्दी भाषा को अपने भावों और विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। 'सत्यार्थ-प्रकाश' के अतिरिक्त उनकी छोटी-बड़ी इतनी रचनायें मिलती हैं कि उन्हें देखकर आश्चर्य होता है कि उन्होंने १८७५-१८८३ तक ८-९ वर्ष की अल्प अवधि में इतने विशाल साहित्य का सृजन कैसे किया। सत्यार्थ प्रकार, ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका, संस्कार-विधि, ऋग्वेद तथा यजुर्वेद का संस्कृत के साथ विस्तृत हिन्दी भाष्य, वेदाङ्ग-प्रकाश के चौदह खण्ड, अष्टाध्यायी-भाष्य, पञ्चमहायज्ञ-विधि, आर्योद्देश्यरत्नमाला, भ्रान्तिनिवारण, व्यवहारभानु, गोकरूणानिधि, आर्याभिविनय जैसे ग्रन्थ लिखकर राष्ट्रभाषा को गौरवान्वित किया। वे अपने समय के राष्ट्रभाषा के श्रेष्ठ साहित्यकार के रूप में हमारे समने आते हें। 'उनके ग्रन्थों में न केवल धार्मिक और दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति का पहला प्रयास स्वामी दयानन्द द्वारा ही किया गया। इतना ही नहीं, उनके साहित्य में हिन्दी गद्य की सुबोध, सरल और रोचक शैली का भी विकास हुआ है।'[३]

हिन्दी भाषा के प्रचार का प्रयास :-

हिन्दी भाषा में ग्रन्थ लेखन के अतिरिक्त उन्होंने अन्य क्रियात्मक प्रयत्न भी किये। मई सन् १८७४ ई. के पश्चात् स्वामी दयानन्द निरन्तर हिन्दी में ही भाषण देते रहे। सतत अभ्यास के चलते धारावाहिक रूप से न केवल शुद्ध और परिमार्जित हिन्दी में अपने विचार व्यक्त करने लगे, अपितु अपने समय के उच्च कोटि के वक्ता भी कहलाये। उन्होंने अधितर शास्त्रार्थ हिन्दी में ही किये। उनके भाषण तथा लेखन में वेद, शास्त्री, मनुस्मृति आदि ग्रन्थों के जहाँ उद्धरण रहते थे वहाँ उनके अर्थ भी हिन्दी में स्पष्ट कर दिये जाते थे, जिससे जनता को समझने में कठिनाई न हो। यद्यपि उनके पत्र संस्कृत, हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी एवं उर्दू भाषाओं में भी पाये जाते हैं किन्तु बाध्यता न होने पर वे हिन्दी में ही पत्र लिखवाते थे, इसलिए उनके अधिकांश पत्र हिन्दी में ही उपलब्ध हैं। हिन्दी में ही विज्ञापन (उस समय 'विज्ञापन' का अर्थ सूचना का प्रकाशन था) छपवाना नि:सन्देह हिन्दी का महत्त्व बढ़ाना और उसकी सेवा करना था। उनके द्वारा हिन्दी के प्रचार साधनों में राजाओं को दिये गये उपदेशों का भी विशेष महत्त्व है। अपने प्रभाव और उपदेश से उन्होंने अनेक राज-परिवारों में हिन्दी को स्थान दिलवाया। वे राजाओं को मनुस्मृति एवं अन्य शास्त्र हिन्दी माध्यम से पढ़ाये। उन्हें हिन्दी भाषा (जिन्हें वे 'आर्यभाषा' का नाम देते थे) के पठन-पाठन तथा देवनागरी लिपि में लेखन का उपदेश दिया। इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने आर्य समाज की स्थापना कर न केवल एक महान् धार्मिक आन्दोलन का सूत्रपात किया अपितु इसके प्रचार के लिए हिन्दी में ग्रन्थ लिखकर खड़ी बोली में हिन्दी गद्य के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। पुनर्जागरण-आन्दोलन के सन्दर्भ में वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने हिन्दी के महत्त्व को अनुभव किया और उसका अपने उपदेशों तथा ग्रन्थों द्वारा व्यापक रूप से प्रचार किया। उनका धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र के नेता के रूप में कार्य सर्वविदित है किन्तु हिन्दी गद्य निर्माता व साहित्यकार के रूप में उनके कार्यों की प्राय: उपेक्षा की गई है।

स्वामी जी की शास्त्रीय और रोचक शैली :-

स्वामी दयानन्द जिस समय हिन्दी रंगमंच पर आये, उस समय हिन्दी गद्य का स्वरूप पूर्णतया निश्चित नहीं

हुआ था। उनके आगमन से पूर्व हिन्दी गद्य के स्वरूप निर्धारण में राजा शिव प्रसाद सितारे हिन्द तथा राजा लक्ष्मण सिंह की दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं का टकराव चल रहा था। उन दिनों सरकारी कार्यालय में उर्दू का प्रचलन था। राजा शिव प्रसाद सितारे हिन्द हिन्दी को उर्दू-फारसीमय बना देना चाहते थे। जबकि राजा लक्ष्मण सिंह हिन्दी का उद्‌भव संस्कृत से होने के कारण हिन्दी गद्य में संस्कृत शब्दों का अथवा संस्कृत से निकले (तद्‌भव) शब्दों का बाहुल्य चाहते थे। हिन्दी गद्य के स्वरूप निर्धारण सम्बन्धी सघर्ष के इस काल में हिन्दी रंगमंच पर दो महामानवों (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा स्वामी दयानन्द) का प्रवेश हुआ, जिनकी हिन्दी सेवा अविस्मरणीय है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को आधुनिक हिन्दी का पिता और युगप्रवर्तक माना गया तथा हिन्दी गद्य का निर्माता भी, किन्तु स्वामी दयानन्द ने हिन्दी के लिए जो कार्य किया उस दृष्टि से हिन्दी साहित्य के लेखकों ने उन्हें प्रमुखता नहीं दी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से ऋषि दयानन्द का कार्य कम नहीं था, अपितु अनेक अर्थों में अधिक ही था। भारतेन्दु जी की मातृभाषा हिन्दी थी और वे साहित्य जगत् के ही व्यक्ति थे। स्वामी दयानन्द की मातृभाषा गुजराती थी तथा वे मूलतः धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र के व्यक्ति थे। उनका उद्‌देश्य वेद का प्रचार था तथा इसी उद्‌देश्य पूर्ति में उनकी साहित्य साधना भी होती चली गयी और इसी में वे हिन्दी का नया स्वरूप भी दे गये। हिन्दी भाषा में वेदों का भाष्य एक युगान्तकारी घटना है। हिन्दी भाषा व साहित्य को स्वामी दयानन्द का अपूर्व योगदान है। स्वामी दयानन्द पहले व्यक्ति थे जिन्होंने धर्म एवं दर्शन जैसे गूढ़तम विषयों को हिन्दी गद्य में प्रस्तुत कर दिखाया। स्वामी दयानन्द ही पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने हिन्दी भाषा-भाषियों के लिए वेद सुलभ कर दिया। 'लाला लाजपत राय' तो इसे उनके जीवन का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण एवं साहसिक कार्य बतलाते हैं। हिन्दी गद्य में खण्डन-मण्डनात्मक साहित्य का सृजन सर्वप्रथम उन्होंने ही किया। अपने समय में हिन्दी भाषा में सर्वाधिक व्याख्यान स्वामी दयानन्द ने ही दिये । हिन्दी भाषा में व्याख्यान द्वारा पूरे देश में सर्वप्रथम वैदिक धर्म का प्रचार किया। भारतेन्दु युग में स्वामी दयानन्द ने ही हिन्दी के भारतीयकरण की ओर ध्यान दिया और इसी कारण हिन्दी को 'आर्यभाषा' नाम दिया। यद्यपि भारतेन्दु जी ने हिन्दी गद्य को विकसित व सुसंस्कृत किया किन्तु उनका क्षेत्र कथा तथा नाटक-साहित्य तक सीमित था। दार्शनिक, सामाजिक, राजनैतिक व अन्य गम्भीर विषयों के सुचारू रूप से प्रतिपादन के लिए स्वामी दयानन्द ने जिस परिमार्जित हिन्दी का प्रयोग किया और जिस सशक्त व सुसंस्कृत शैली को अपनाया वह वस्तुतः एक नई चीज थी। उन्होंने हिन्दी की गद्य शैली को प्रोढ़ता प्रदान की। स्वामी दयानन्द ने भारतीय भाषाओं के मूल स्रोत संस्कृत का महत्त्व समझकर अपने ग्रन्थों में सरल तत्सम शब्दों के चयन की नीति अपनाई, जबकि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का झुकाव तद्‌भव शब्दों की ओर था। आगे चलकर हिन्दी भाषा का विकास स्वामी दयानन्द द्वारा प्रयुक्त संस्कृत की शब्दसम्पदा तथा प्राञ्जल भाषा के अनुसार ही हुआ। इस दृष्टि से हिन्दी के स्वरूप को साहित्यिक स्तर और स्थिरता प्रदान करने में स्वामी दयानन्द का प्रमुख हाथ है। हिन्दी में शास्त्रीय पद्धति से समीक्षा और व्याख्यान करने की पद्धति का आरम्भ स्वामी दयानन्द द्वारा हुआ। 'श्री कृष्ण कुमार कौशिक' ने भारतेन्दु व स्वामी दयानन्द की हिन्दी सेवाओं का उल्लेख करते हुए लिखा तथा उनके युग के लेखकों द्वारा हुआ तो शास्त्रीय पद्धति से समीक्षा और व्याख्या करने की पद्धति का आरम्भ स्वामी जी और उनके युग के लेखकों द्वारा हुआ।'[४] इतना ही नहीं स्वामी दयानन्द द्वारा लिखित 'आत्मकथा' अपने समय की खड़ी बोली के मानक स्वरूप तथा गद्य लेखन का आदर्श प्रस्तुत करती है। यह हिन्दी में प्रकाशित सर्वप्रथम आत्मकथा है। उनका पत्र-संग्रह से ही हिन्दी में पत्र-साहित्य की विधिवत् परम्परा का शुभारम्भ हुआ। 'सत्यार्थ-प्रकाश' को तो आधुनिक हिन्दी गद्य साहित्य

के प्रस्थानिक बिन्दु के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। स्वामी दयानन्द के बहुसंख्यक ग्रन्थ हिन्दी में हैं। इन ग्रन्थों के गद्य को यदि एक स्थान पर एकत्र करके देखा जाये तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इतना अधिक हिन्दी गद्य १९ वीं शताब्दी के किसी अन्य साहित्यकार द्वारा नहीं लिखा गया। उनके ग्रन्थों में ऐसे सन्दर्भ भी है, जिन्हें ललित-साहित्य के अन्तर्गत माना जा सकता है। उनके इस गद्य साहित्य में व्यंग-विनोद से आप्लावित एक नई शैली विकसित हुई, भाषा में निखार आया और वह प्राणवन्त बनी। निश्चय ही स्वामी दयानन्द का स्थान हिन्दी गद्य के निर्माताओं में सुरक्षित है। स्वामी दयानन्द की विशिष्ट हिन्दी को प्रदान किये और कितने पुराने शब्दों का नये सन्दर्भ में प्रयोग किया।

हिन्दी के परिमार्जन का यदि इतिहास लिखा जाय तो उसमें महर्षि के योगदान है। उन्होंने अपने सांस्कृतिक, समाज सुधार एवं राष्ट्रभाषा हिन्दी की स्थापना और प्रचार तथा उसे उत्कृष्ट कोटि के ज्ञान विज्ञान की भाषा के पद पर आरूढ़ करने में स्वामी दयानन्द का अनुपम योगदान है। उन्होंने अपने सांस्कृतिक, समाज सुधार एवं राष्ट्रीय कार्यों के द्वारा उसे एक गरिमा प्रदान की तथा तत्कालीन सर्जक साहित्यकार को प्रेरणा दी। यह प्रेरणा साहित्य की विविध विधाओं में सहज ही देखी जा सकती है। उनके भाषण-लेखन से भारतेन्दु युग के सभी साहित्य मनीषियों को प्रेरणा मिली। उस समय के सभी साहित्यिकों की रचनायें प्रायः समाजसुधार तथा राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत है। स्वामी दयानन्द से पूर्व हिन्दी गद्य में छोटे-छोटे कहानी-किस्से ही लिखे जाते थे। उन्होंने हिन्दी गद्य को प्रौढ़ता प्रदान की।

निष्कर्ष :- हिन्दी भाषा के गद्य और प्रारम्भिक काल में स्वामी दयानन्द ने दार्शनिक, सामाजिक, राजनैतिक व अन्य गम्भीर विषयों के सुचारू रूप से प्रतिपादन के लिए जिस परिमार्जित हिन्दी को प्रयोग किया और जिस सशक्त व सुसंगठित शैली को अपनाया वह वस्तुतः नई चीज थी। उससे हिन्दी साहित्य समर्थ और सशक्त बना। युगपुरुष होने के नाते उनका और उनके हिन्दी लेखन का हिन्दी भाषा और साहित्य पर युगव्यापी प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती वेद-शास्त्रों के गम्भीर विद्वान्, महान् सुधारक, राष्ट्रवादी तथा प्रगतिशील चिन्तक थे ये तो सभी जानते हैं, परन्तु वे एक महान् साहित्यकार भी थे और हिन्दी साहित्य के विकास में उनका कृतित्व अद्वितीय है, इस तथ्य की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया गया है।

पाद टिप्पणी :-

१. पुनरुत्थान युग का द्रष्टा- डॉ. रघुवंश, पृ. ११-३४ (महर्षि दयानन्दः यदुवंश सहाय, पुस्तक की भूमिका) प्रकाशक : लोकभारती प्रकाशन, १५-ए महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-०१, १९९२ ई.

२. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र-पं. लेखराम, पृ.१६९, प्रकाशक : आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, २ एफ, कमलानगर, दिल्ली-०७

३. स्वामी दयानन्द सस्वती-विष्णु प्रभाकर, प्रकाशक : साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, १९९६ ई.

४. शोधभारती, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार वर्ष-१, अंक-१, जनवरी १९७४, पृ. ७२

५. हिन्दी गद्य साहित्य-डॉ. चन्द्रभानु सीताराम सोनवणे प्रकाशक : ग्रन्थम्, रामबाग, कानपुर, १९७५ ई.

हिन्दी विभाग, डॉ. राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय फैजाबाद (उ०प्र०)

पुण्य : जिसका स्वरूप विद्यादि शुभ गुणों का दान और सत्यभाषाणादि सत्याचार करना है, उसको **'पुण्य'** कहते हैं। **-स्वामी दयानन्द सरस्वती**

पर्यावरणस्य आद्यप्रवाचका वेदाः

❑ आचार्या सूर्या देवी चतुर्वेदा

पर्यावरणस्य महत्त्वम्-

पर्यावरणम् इति सृष्टेः सर्वेषां मनुष्याणाम् अति परिचितः शब्दोऽस्ति। पर्यावरणस्य जनजीवनेन प्रगाढः सम्बन्धः वर्तते। न चेत् पर्यावरणं जीवनं कठिनमेव अभविष्यत्। पर्यावरणस्य जीवने महती आवश्यकता विद्यते।

पर्यावरणमिति शब्दः **परि आङ्** एताभ्याम् उपसर्गपूर्वकैः **वृ संवरणे, वृञ् वरणे, वृञ् आवरणे** धातुभिः ल्युट् प्रत्ययेन निष्पद्यते। **परेः** अर्थः **सर्वतोभावः, आङ्** उपसर्गश्च **प्रति, समन्ताच्च** अर्थयोः वर्तते। **वरण**शब्दस्यार्थः भवति **आच्छादनं, पिधानम्।** इत्थं पर्यावरणशब्दस्यार्थः भवति-

१. **पर्यावृत्तिः पर्यावरणम्।**

२. **यत् परितः आसमन्तात् आवरति आवृणोति आवारयति आच्छादयति तत् पर्यावरणम्।**

३. **पर्यावरणस्य द्वितीयं नाम वातावरणञ्चापि विद्यते।**

पर्यावरणस्य पदार्थाः विभागाश्च

जगति ये ये पदार्थाः जडचेतनयोः जीवनम् आच्छादयन्ति प्रभावयन्ति च ते ते सर्वे पदार्थाः पर्यावरणशब्देन अङ्गीक्रियन्ते। भोज्यवस्त्रनिवासादेः यानि साधनानि विभिन्नप्रवृत्तीनाञ्च विकासहेतवः ते सर्वे पर्यावरणपदाभि- धेयाः। तत्र पर्यावरणे **अग्निः, पृथिवी, जलं, वायुः, आकाशः** एतेषां पञ्चभूतानां वनवृक्षलतौषधीनां जलचरखेचरसरीसृपादिजन्तूनां गवादिपशूनां **रासायनिकतत्वम्** आदिनां पदार्थानां संग्रहणं भवति। पर्यावरणविद्भिः तत् पर्यावरणं **जैविकं, भौतिकम्** इत्याख्ययोः विभागयोः विभक्तम्।

जैविकपर्यावरणे समस्तं जीवजगत्, समस्ताश्च वृक्षलतावल्लर्यौषधयः वनस्पतयश्च अन्तर्गणिताः सन्ति।

भौतिकपर्यावरणे मृत्तिका, जलं, वायुः, प्रकाशः, तापादयश्च, अन्तर्भूताः विद्यन्ते। अस्य भौतिकपर्यावरणस्यापि त्रयो भागाः भवन्ति। **१. भूमण्डलम्,** अस्मिन् मृत्तिका, बालुका, पर्वताः खनिजादिपदार्थाः गृह्यन्ते। **२. जलमण्डलम्,** अस्य पदार्थाः सन्ति नद्यः, समुद्राः, तडागाः, प्रपातादीनि जलीयानि श्रोतांसि। **३. वायुमण्डलम्,** एतस्मिन् विभागे समस्ताः वातयः = Gases गैसेज्, **नाइट्रोजन, ऑक्सीजन, हाइड्रोजन, कार्बनडाइ ऑक्साइड, क्रिप्टान** आदयः सन्ति।

पर्यावरणप्रदूषणस्य कारणम्

पर्यावरणस्य एष समस्तो विभागः जडचेतनयोः आच्छादकः संवर्धकः वर्तते। पर्यावरणस्य समस्तानि तत्वानि शुद्धानि सन्ति नैसर्गिकरूपेण। चेतनजीवाः स्वाभिः क्रियाभिः, कर्मभिः अन्यच्च पर्यावरणपदार्थानाम् ऊर्जायाश्च अवशिष्टांशस्य विमोचनेन च नैसर्गिकं सन्तुलनं दूषयन्ति असन्तोलयन्ति, तदा एते पर्यावरणपदार्थाः प्रदूषिताः भवन्ति। तदेव प्रदूषणं इति प्रोच्यते।

पर्यावरणस्य मुख्यानि प्रदूषणानि

१. भूमिप्रदूषणम्, २. जलप्रदूषणम्, ३.वायुप्रदूषणम्, ४. ध्वनिप्रदूषणम्, ५. आध्यात्मिक- चरित्रप्रदूषणम् आदीनि प्रदूषणानि पर्यावरणस्य मुख्यानि भवन्ति।

पर्यावरणप्रदूषणस्य हानयः

१. भूमिप्रदूषणेन भूमेः और्वरत्वं क्षीयते। खाद्यान्नम् अपोषकम् भवति। तेन अन्नेन निर्बलता, कुविचारः,

दुर्व्यसनं, आत्महत्या आदिरूपाः मानसिकाः रोगाः, हानिरूपाः उत्पद्यन्ते।

२. जलप्रदोषत्वात् जलस्य जीवनाधारत्वं क्षीयते। जलस्य दूषिते सति **संग्रहणी, पाण्डुत्वं, अतिसारः, रक्ताल्पता, ज्वरः** आदीनि शारीरिकाणि कष्टानि समुद्भवन्ति।

३. वायुप्रदूषणात् जीवनाधारः प्राणरूपः आवरकः शक्तिवैकल्यमाप्नोति। प्राणरूपस्य वायोः प्रदूषणस्य परिणामेन जीवनं कठिनं संजायते। वायोः दूषिते Gas गैस आख्यैः **कार्बनमोनो ऑक्साइड** आदिभिः दूषिततत्वैः पक्षाघातः सन्निपातः–टाइफाइड, अल्सर, लघुदीर्घाः स्फोटकाः, केंसर= वक्रस्फोटकः, यक्ष्मा, निमोनिया, कासः आदयो शरीरे विकारत्वेन रोगाः भवन्ति।

४. ध्वनिः शब्दरूपो वर्तते। यः ज्ञानस्य महत्त्वपूर्णं साधनं, विचाराणां आदानप्रदानस्य च आधारो वर्तते। तस्य दूषणेन अनिद्रा, बधिरता, स्नायुदौर्बल्यं, अस्थमा प्रभृतयः श्वासरोगाः जायन्ते, मृत्युरपि भवति।

५. पृथिवी, जलं, वायुः आदिषु पर्यावरणतत्त्वेषु दूषितेषु चरित्ररूपं आध्यात्मिकं प्रदूषणं संजायते। अस्मिन् चरित्रप्रदूषणे, बुद्धिः, मनः, आचाराः, विचाराः आदयो विकृताः भवन्ति। परिणामत्वेन सामाजिकं सौहार्दं, पारिवारिकं संगठनम्, राष्ट्रिया सद्भावना आध्यात्मिका चेतना प्रभृतयः अपि मृतप्रायाः जायन्ते। जीवनं नरकत्वं च आपद्यते।

वर्तमाने पर्यावरणप्रदूषणस्य निवारणाय सर्वे ज्ञानिकाः वैज्ञानिकाः प्रयतमानाः वर्तन्ते। तस्य निवारणाय च औद्योगिकयन्त्राणि, धूम्रपराणि, वाहनानि, तीव्रध्वनिकारकयन्त्राणि, कीटनाशकाः पदार्थाश्च ये सन्ति, तेषां न्यूनतमः स्वल्पतमो प्रयोगश्चेत् इति मन्यमानाः विद्वांसः वर्तन्ते। विश्वपर्यावरणदिवसः, विश्वजलदिवसः, विश्ववनदिवसः एतादृशाश्च दिवसाः उपायत्वेन कल्पिताः सन्ति।

वार्तमानिकस्य पर्यावरणचिन्तनस्य कालः

वर्तमाने काले पर्यावरणस्य शुद्धये आधुनिकैः चिन्तकैः सर्वप्रथमं पञ्चविंशतिवर्षपूर्वं जून मासे १९७२ द्वासप्तत्युत्तरैकोनविंशत्याम् ईस्व्यां स्टॉकहोम स्थाने अन्ताराष्ट्रियेण सम्मेलनमाध्यमेन प्रयत्नं सुविहितम्। यस्मिन् एकोनविंशतिशतेन देशैः भागः गृहीतः। ततः जूनमासस्य पञ्च दिनांके १९७८ अष्टसप्तत्युत्तरैकोनविंशत्याम् ईस्व्यां .यू एन ओ देशे पर्यावरणदिवसरूपेण प्रस्तावः पारितः। तस्माद् दिनात् **जूनमासस्य पञ्च दिनांकः पर्यावरणदिवसरूपेण** ज्ञायते। पर्यावरणशुद्धये च वृक्षाः आरोप्यन्ते। वृक्षारोपणं प्रदूषणाय सम्यक् साधनं, परं तत् लघूतमम्।

पर्यावरणस्य आद्यप्रवाचका वेदाः

सृष्टेः संचालकः, सर्वज्ञः, रक्षकः, पालकः, परमेश्वरो वर्तते। यो नैव चिकित्सकः एव, अपितु परमचिकित्सको विद्यते। तेन सर्वज्ञेन सृष्टेरुत्पत्तेः कालतः एव पर्यावरणस्य संरक्षणाय वेदेषु विपुलानि घटकानि निर्दिष्टानि। **तानि च घटकानि सूर्यः अग्निः, यज्ञः वृक्षवनस्पतयः पर्वताः पशवः कीटकाः आदिभूताः पदार्थाः सन्ति।** अन्यच्च पर्यावरणसंरक्षकाणां भूमिजल–वाय्वादिपदार्थानां महत्त्वं संदिष्टं, तेषां पदार्थानां रक्षणाय च वेदेषु आदिष्टम्। वेदेषु पर्यावरणविषयस्य महत् चिन्तनं विद्यते। पर्यावरणस्य आद्यप्रवाचका वेदा एव।

वेदानां पर्यावरणस्य वाचकाः शब्दाः

वेदेषु वैदिकग्रन्थेषु च पर्यावरणस्य वाचकः पर्यावरणशब्दो नैव वर्तते, न चोपलभ्यते। वेदेषु वैदिकग्रन्थेषु च पर्यावरणस्य यो अर्थः तदर्थकाः वाचकाः परिधिः[१], परिभूः[२], परिवृत्[३], छन्दस्[४], आदयो शब्दाः वर्तन्ते। ते च वेदोक्ताः परिधिः आदयो शब्दाः प्राकारास्य आवरणस्य अर्थस्य वाचकाः सन्तः, पर्यावरणं विशालीकुर्वन्ति।

वेदेषु भूमिपर्यावरणस्य चिन्तनम्

भूमि: धनधान्यसम्पदां प्रददाति। भूमि: सर्वेषाञ्च मातृरूपा अस्ति। तस्या: महत्त्वे संरक्षणाय च वेदे बहव: उपदेशा: सन्ति। यथा–

माताभूमि: पुत्रोऽहं पृथिव्या:। (अथर्व १२/१/१२)

अर्थात् भूमि: मातृभूता वर्तते, सा पालिका रक्षिका चाप्यस्ति। अहं मनुष्य:, पृथिव्या:= मातु:, पुत्र:= रक्षक: अस्मि। पृथिवी माता। अर्थात् पृथिवी माता विद्यते। (यजु.२/१०) अवतां त्वां द्यावापृथिवी अव त्वं द्यावापृथिवी। (यजु२/९) अर्थात् द्यौलोक: पृथिवीलोक:, त्वाम्= मनुष्यम्, अवताम्= रक्षयताम्, द्यौलोकं पृथिवीलोकं च, त्वम्=मनुष्य: अवरक्षेत्। भूमिष्ट्वा पातु हरितेन विश्वभृत्।।(अथर्व ५/२८/५) अर्थात् अन्नादे: उत्पादिका भूमि:, विश्वभृत्= विश्वस्य पालिका, हरितेन= हरितवर्णाभि: वनस्पत्यादिभि:, पातु= परिपालयतु।

पृथिवीं यच्छ पृथिवी दृंह पृथिवीं मा हिंसी:।

(यजु. १३/१८)

मन्त्रस्य भावोयं पुष्टये पृथिवी ग्राह्या। सस्यशालिनी पृथिवी ऋषिकर्मणा प्रवर्धनीया धारणीया, पोषिका पृथिवी च, मा हिंसी:= नैव दूषणीया।

पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मूलं मा हिंसिषम्।

(यजु. १/२५)

मन्त्रभाव:– पृथिवी यज्ञसाधिका वर्तते, ओषधीनां च आधारा। पृथिव्या: उत्खनेन तस्या: मूलरूपननाश: न करणीय:।

तात्पर्यमिदं भूमि: अस्माकं मातृरूपा वर्तते पोषकत्वात्, तस्मात् पुत्ररूपै: अस्माभि: खननेन रासायनिकभूमिलेपैश्च पृथिवी प्रदूषिता न कार्या।

वेदेषु जलपर्यावरणस्य चिन्तनम्

जलम् अमृतरूपं जीवनस्य च भेषजं वर्तते। जलं रोगनाशकं मुख्यं तत्त्वं विद्यते। वेदेषु शक्तिवर्धकस्य सर्वरोगनाशकस्य बलाधारस्य रसायनभूतस्य जलस्य महत्त्वं प्रतिपादितम्, रक्षणाय च निर्दिष्टम्। यथा–

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।
आपश्च विश्वभेषजी:।।

(ऋक्.१/२३/२०)

अर्थात् सोम:=शान्तिदायक: परमेश्वर: मे= मह्यम्, अब्रवीत्=निर्दिशति। अप्सु=अपाम्, अन्त:= मध्ये, विश्वानि भेषजा=बह्व: रोगभयनिवारका: गुणा: सन्ति। इत्थम् आप:=जलानि, विश्वभेषजी:=सर्वरोगाणां प्रशमनोषधयस्सन्ति।

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्।

(ऋक्.१/२३/१९)

मन्त्रतात्पर्यं यत् अप्सु= जलेषु, अन्त:= मध्ये, अमृतम्= अमृतात्मकम् ओषध्यात्मकं नाशरहितं रसं विद्यते। अप्सु=जलेषु, भेषजम्= रोगनिवारकं चिकित्सकीयं धर्म वर्तते।

आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात्।

–अथर्व. ३/७/५

सारोऽयं मन्त्रस्य यत् विश्वस्य=सर्वरोगापहारस्य, आप:=जलानि, भेषजी:=औषधी, ता:=आप:, त्वा=मनुष्यं, क्षेत्रियात्=परजन्मनि उपचारयोग्यात् असाध्यरोगात्, मुञ्चन्तु= दूरीकुर्वन्तु।

आपो ह मह्यं तद्देवीर्ददन्हृद्द्योत भेषजम्।

–अथर्व. ६/२४/१

अर्थात् तद् देवी:=ता: दिव्यगुणा:, आप:=जलानि, जलवत्य: नद्य:, ह=निश्चयेन, मह्यं=मनुष्यम्, हृद्द्योत भेषजम्= हृदयस्य दाहस्य निवारणाय ओषधिम्, ददन्=ददति।

आपस्तत् सर्वं निष्करन् भेषजां सुभिषक्तमा:।।

–अथर्व. ६/२४/२

अर्थात् आपः= जलानि, तत् सर्वम्= तानि सर्वाणि कष्टानि रोगरूपाणि, निष्करन्=निर्गतीकुर्वन्ति, यानि सुखं हरन्ति। आपः भिषजाम्= जलानि चिकित्सकेषु मध्ये सुभिषक्तमाः=उत्तमाः चिकित्सकाः सन्ति।

अपः पिन्वौषधीजिन्व।

–यजु. १४/८

मन्त्रस्य निर्देशः अपः=जलानि, पिन्व=सेवनीयानि सन्ति। तानि सम्पूय स्थापनीयानि, अन्यच्च औषधीः=वनस्पतयः याः औषधिभूताः ताः, जिन्व=जलेन तर्पणीयाः, सिञ्चनीयाः, पोषणीयाः।

तात्पर्यम् अभूत् यत् जलानि अमृतरूपाणि औषधयः सन्ति। उत्तमाश्च वैद्याः वर्तन्ते। एतत् हृदरोगनाशकं जलं विद्यते। आनुवंशिकरोगाणां च परमोषधिः जलं वर्तते। तस्य जीवनभूतस्य जलस्य संरक्षणम् अत्यावश्यकम्।

वेदेषु वायुपर्यावरणस्य चिन्तनम्

जीवनस्य आधारः वायुः विद्यते। वायुः अमृतरूपं प्राणतत्वं संददाति। वायुः प्रदूषणानि नाशयति। वायोः महत्त्वं वेदेषु निगदितम्, रक्षणाय च निर्देशाः ताः। यथा–

वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे।
प्र ण आयूंषि तारिषत्।।

(ऋक्. १०/१८६/१)

अत्र मन्त्रे संदिष्टम् हे शम्भु मयोभु= सुखकारक सुखोत्पादक, वात=वायो त्वम्, भेषजम्=ओषधरूपम्, नः=अस्माकम्, हृदे= हृदयार्थम्,आ वातु= प्रवहेत्। नः= अस्माकम्, आयूंषि=जीवनानि, प्र तारिषत्= पालयेत् रक्षेत्।

यददो वात ते गृहे मृतस्य निधिर्हितः।
ततो नो देहि जीवसे।।

(ऋक्.१०/ १८६/३)

अर्थात् ते गृहे= तव स्थानं, यद् अदः वात= इत्थं यत् हे वायो वर्तते तस्मिन्, अमृतस्य=अविनाशित्वस्य, निधिः=संचयः, हितः= आश्रितः, ततः=तस्मात्, नः= अस्मभ्यं, जीवसे= जीवनाय, देहि=दद्याः।

अस्मिन् सूक्ते त्रयो मन्त्राः सन्ति। सर्वे मन्त्राः वातमहत्त्वं प्रतिपादयन्ति।

युवं वायो सविता च भुवनानि रक्षथस्तौ नो मुञ्चतमंहसः।

(अथर्व. ४/२५/३)

हे वायो सविता च=त्वं वायुः सविता उभे, युवं=युवां, भुवनानि= उत्पन्नानि लोकलोकन्तराणि यानि सन्ति, तानि, रक्षथः= तेषां रक्षां कुरुथ, तौ= युवां, नः अंहसः= अस्माकं पापत्वम्, मुञ्चतम्=त्यजतम्।

वातः पर्जन्य आदग्निस्ते क्रव्यादमशीशमन्।।

(अथर्व. ३/२१/१०)

मन्त्रस्य भावः– वातः= प्रवाही वायुः, पर्जन्यः=मेघः, आत्= अनन्तरम्, अग्निः=वह्निः अस्ति, ते= सर्वे, क्रव्यादम्= श्मशानाग्निम्, अशीशमन्= प्रभावरहितम् अकुर्वन्।

तात्पर्यमिदं वायुः मानवजीवने प्रभावत्वेन विद्यते। वायुं विना जीवनमेव संकटापन्नं भवनि। वायुः पर्यावरणस्य महत्त्वपूर्णम् अङ्गम्।

वेदेषु ध्वनिपर्यावरणस्य चिन्तनम्–

ध्वनिः= मानवजीवनस्य व्यवहारान् सम्पादयति। वेदेषु ध्वनेः महत्त्वम् शोधनाय रक्षणाय च आदिष्टम्।

श्रोत्रं ते शुन्धामि।

(यजु. ६/१४)

अर्थात् श्रोत्रेन्द्रियहानिकरस्य ध्वनेः प्रदूषणं निवारयामि।

द्यां मा लेखीरन्तरिक्षं मा हिंसीः पृथिव्या सम्भव।

–यजु. ५/४३।।

मन्त्रे प्रोच्यते ध्वनेः=स्थानम् अन्तरिक्षं द्यौश्च वर्तते। तस्मात् द्याम्=द्यौलोके, मा लेखीः=प्रदूषणं नैव कर्तव्यम्, अन्तरिक्षम्=अन्तरिक्षे, मा हिंसीः=ध्वनिप्रदूषणस्य कार्यं न कार्यम्। पृथिव्याः=पृथिवीस्थैः पदार्थैः, सम्भव=ऐश्वर्यपूर्णो भव।

अन्तरिक्षं दृंहान्तरिक्षं मा हिंसीः।-यजु १४/१२

अर्थात् जीवनस्य रक्षणाय अन्तरिक्षम्=अन्तरिक्षलोकम्, दृंह=प्रवर्धय, अन्तरिक्षम्=अन्तरिक्षलोकं ध्वनि-प्रदूषणादिभिः, मा हिंसीः= नष्टं न करणीयम्। निष्कर्षोऽयं यन्त्राणां ध्वनिभिः अन्तरिक्षे ध्वनिप्रदूषणं नैव विधेयम्। अन्तरिक्षरक्षणेन अनिद्रा, बधिरता, इत्यादिभिः रोगैः आत्मानं रक्षणीयम्।

वेदेषु चरित्रपर्यावरणस्य चिन्तनम्-

जगति चरित्रं महद् द्रविणं विद्यते। चरित्रे गते विनष्टे च सर्वं जीवनसुखं अत्येति। चरित्रसंघटकाः बुद्धिः, मनः, आचारविचारादयो भवन्ति। वेदेषु चरित्ररक्षणाय अनेकाः उपदेशाः ताः। यथा-

धियो यो नः प्रचोदयात्। -यजु. ३६/३।

मन्त्रे संदिश्यते चरित्ररक्षणाय, यत् नः = अस्माकम्, धियः= बुद्धयः, यः= सः परमेश्वरः, प्रचोदयात्= तेभ्यः कर्मभ्यः, बुद्धिम् अपात्य शुभेषु कर्मसु प्रेरयेत्।

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु। (यजु.३४/१-६)

मनः= सर्वकार्याणाम् आधारं वर्तते। शुभाशुभं मनः एव करोति, मनः शुभं कुर्यात्, अतः मन्त्रे मनसः शिवाय प्रार्थना वर्तते। तत्= दूरंगामि, ज्योतिरूपम्, मे मनः= मम चित्तं शिवसंकल्पम्= कल्याणपूर्णम्, अस्तु= भवतु। यजुर्वेदस्य एषु मन्त्रेषु षड्धा मनसः पर्यावरणस्य शिवाय प्रार्थितम्।

इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि। (यजु.१/५)

मन्त्रे आचारविचारपरिशोधनाय उपदेशः वर्तते। इदम् अहम्= प्रत्यक्षोऽहं मनुष्यः, अनृतात्= अलीकात्, सत्यम्= सत्याचारं सत्यविचारम्, उपैमि= धारयामि।

तात्पर्योऽयं चरित्रनिर्माणाय बुद्धेः मनसः आचारविचाराणां च प्रदूषणं निवारणं परम् आवश्यकं वर्तते।

वेदेषु पर्यावरणसंघटके वृक्षारोपणचिन्तनम्-

वृक्षाः जीवनाय जीवनशक्तिं प्रददति। प्रदूषणञ्च नाशयन्ति, पर्यावरणं च संरक्षन्ति। वेदेषु वृक्षाणां वैशिष्ट्यं वदता उक्तम्-

यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा।
पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छावदामसि।।
(अथर्व. १२/१/२७)

अस्मिन् मन्त्रे पृथिव्या सार्धं वृक्षाणां रक्षणाय संकेतः वर्तते। उच्यते-यस्याम्= पृथिव्याम्, वृक्षाः वानस्पत्याः= विविधाः वृक्षाः, फलदायिनः वृक्षाश्च, ध्रुवाः= स्थिराः, विश्वहा= सर्वदा, तिष्ठन्ति= स्थिताः भवन्ति, तस्याम्, विश्वधायसम्= सर्वपालिकायै, धृताम्= साधनयुक्तायै, पृथिवीम्= पृथिव्यै, अच्छ, आवदामसि= सर्वतः प्रशंसां कुर्मः।

वीरुधो वैश्वदेवीरुग्राः पुरुषजीवनीः।
(अथर्व.८/७/४)

अथर्ववेदस्य अस्मिन् मन्त्रे पर्यावरणचिन्तनस्य उदात्तं रूपं प्रस्तुतम्। मन्त्रे उच्यते, पुरुषजीवनीः= मनुष्यजातेः जीवनाय, उग्राः= बलशालिनः, वैश्वदेवीः= सूर्यभूमिजलादेः देवानां सम्बन्धिनः, वीरुधः= ओषधयः, वृक्षाः भवन्ति।

नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः। (यजु. १६/१७)
वनानां पतये नमः। (यजु.१६/१८)
वृक्षाणां पतये नमः। (यजु.१६/१९)
ओषधीनां पतये नमः। (यजु.१६/१९)
नमो वन्याय च। (यजु.१६/३४)

वृक्षाः वनस्पतयः जीवनं प्रचालयन्ति। अतः यजुर्वेदस्य एषु मन्त्रेषु वृक्षाणां नमः= परिचरणं सेवनं विहितम् (**नमस्यति इति परिचरणकर्मा,** निघ. ३/५)। वृक्षौषधीनां रक्षणाय तेषां **पतये**= रक्षकेभ्यः स्वामिभ्यः, नमः= दण्ड शस्त्रं वा, (**नमः इति वननाम** निघ.२/२०) प्रदेयम् इति आदिष्टम्। वृक्षौषधिवनस्पतीनाम् पोषणाय रक्षणाय वेदे अन्यत्रापि उक्तम्-

ओषधीर्जिन्व। -यजु. १४/८।।

मौषधीर्हिंसीः। -यजु. ६/२२।।

समाप ओषधीभिः समोषधयो रसेन। -यजु. १/२१।।

मन्त्रेषु वृक्षौषधीनाम् आवरणाय रक्षणाय संकेतः वर्तते। वनस्पतयः औषधयः रसपूर्णाः सन्ति, रसेन च भेषजम् कुर्वन्ति।

वृक्षारोपणाय ऋग्वेदस्य आदेशः विद्यते। यथा-**वनस्पतिं वन आस्थापयध्वं नि षू दधिध्वमखनन्त उत्सम्।**

-ऋक्.१०/१०१/११

अर्थात् वने= वृक्षोद्यानादिषु, वनस्पतिम्= वृक्षादयः, नि सु आस्थापयध्वम्= निश्चयेन सुष्ठु आरोपणेन कर्तव्याः। अखनन्तः= अनुत्पाद्यन्तः, दधिध्वम्= वृक्षौषधयः धारणीयाः, यतो हि ते, उत्सम्= जलानां श्रोतांसि सन्ति।

तात्पर्यमिदं वृक्षौषधयः कार्बनडाइ ऑक्साइड रूपं विषं हरन्ति। जगत् संरक्षणं च कुर्वन्ति। पर्यावरणसंशुद्धिं विदधति।

वेदे **सूर्यस्य** पर्यावरणपरिशुद्धौ महत्त्वं संकेतितम्-

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन्हन्तु निम्रोचन्हन्तु रश्मिभिः।
ये अन्तः क्रिमयो गवि।

(अथर्व.२/३२/१)

अर्थात् सूर्यस्य रश्मयः उभयकालिकाः, गविः= इन्द्रियादिषु वर्तमानान् व्याप्तान्, क्रिमीन्= कीटाणून् नाशयन्ति।

वेदेषु यज्ञपर्यावरणस्य चिन्तनम्-

यज्ञः पर्यावरणस्य प्रमुखं साधनं विद्यते। यज्ञयागादिषु घृतसोमादिहवींषि अग्नेः तापात् ऊष्मत्वेन भवन्ति, धूमरूपेण च अन्तरिक्षे व्याप्नुवन्ति वाष्पीभवन्ति। ततः अग्निवायुसंयोगेन शीतिकरणक्रिया संजायते। तस्मात् च अन्तरिक्षे जलोत्पतिर्भवति। तदेव सूक्ष्मं जलं वाय्वादिभिः संप्रेर्यमाणो वृष्ट्या उपलभ्यते। तेन च अन्नसम्पदा भवति। सुखं च उत्पद्यते। यजुर्वेदे उक्तम्-

मरुतां पृषतीर्गच्छ वशा पृश्निर्भूत्वा दिवं
गच्छ ततो नो वृष्टिमावह।।

(यजु.२/१६)

मन्त्रस्यार्थः आहुतयः, पृश्निः=अन्तरिक्षे, वशा भूत्वा= शोभिताः भवन्त्यः, मरुताम्=विद्युदग्निरूपाणाम् वायूनां साधर्मि्, दिवम्=द्यौलोकम्, गच्छ=गच्छन्ति, ततः=तत् स्थानात्, नः=अस्माकं सुखाय, वृष्टिम्=वर्षाम्, आ वह= प्रापयन्ति वर्षयन्ति।

उल्बस्य= ओजोन लेयर पर्यावरणस्य यज्ञ एव संवर्धकः यज्ञः यथा वृष्टिसहायकः, तथैव उल्बस्य= व्वदम संलमत ओजोन लेयर स्तरस्य संरक्षकः वर्तते। वेदे ओजोन रक्षणाय यज्ञ एव महत् साधनम् उक्तम्। मन्त्रोऽस्ति-

तस्योत जायमानस्योल्ब आसीद्धिरण्ययःकस्मै
देवाय हविषा विधेम।।

(अथर्व.४/२/८)

मन्त्रे प्रोच्यते यः तस्य जायमानस्य= सूर्याख्यस्य उत्पद्यमानस्य पदार्थस्य, उल्बः= प्रदीप्यमानः गर्भवेष्टनः, आसीत्= अवर्तत, सः हिरण्ययः= दीप्तियुक्तः हिरण्यसदृशः उल्ब एव, तस्मै, कस्मै देवाय= सुखोत्पादकाय दिव्याय, हविषा= आहुतिभिः, विधेम= परिचरेम, वर्धयेम। तात्पर्यमिदं वेदे ओजोन लेयर कृते उल्बशब्दः वर्तते। तस्य उल्बस्य रक्षणं यज्ञेन भवति।

पशून् पाहि। यजु. १/१, मनुर्भव जनया दैव्यं जनम् ऋक्.१०/५३/६, इत्यादयो वेदसन्देशाः पर्यावरणस्य वातावरणस्य उपकारकाः संशोधकाः सन्ति।

इत्थं सुनिश्चितं जातं यत् वेदेषु पर्यावरणविषयस्य सर्वाङ्गपूर्णम् अद्भुतम् चिन्तनं विपुलत्वेन वर्तते। प्राणीमात्रस्य अप्राणिमात्रस्य च सुखाय संवर्धनाय पर्यावरणस्य सर्वेपि संघटकाः ईश्वरेण सृष्ट्यादौ एव वेदेषु निर्दिष्टाः। वेदोक्ताः भूमिजलवायुध्वनिचरित्र-वृक्षसूर्ययज्ञादिपदार्थाः पर्यावरणस्य शोधकाः सम्पूरकाश्च सन्ति। एतेषां पदार्थानां वेदेषु अनेकत्र महत्त्वम् प्रतिपादितम्, संरक्षणाय च निर्देशाः बहुत्र अभिहिताः।

सन्दर्भ सूची-

१. अन्यस्तेषां परिधिरस्तु। ऋक्.- १.१२५,परिधिः आवरणं मर्यादा। द.या.भा.-१.१२५.७ ।

२. अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि। ऋक्.-१.१.४, परिभूः यः परितः सर्वतः पदार्थेषु भवति सः। -द.या.भा.-१.१.४।

३. अपा वृधि परिवृतं न राधः। -ऋक्.- ७.२७.२, परिवृत् सर्वतः स्वी तं =वृतम् इति।। -द.या.भा.-७.२७.२।

४. छन्दांसि वै संवेशः उपवेशः। -तै. ब्रा. १.४.६.४।

-प्राचार्याः पाणिनि कन्या महाविद्यालय, वाराणसी-१०

विजयदशम्यां विशिष्टं व्यंग्यम्

डॉ. प्रशस्यमित्र शास्त्री

दशम्यामेकदा केचिन्नेतारमथ सादरम्।
महाभ्रष्टं महामूढं स्थानीयं तु विधायकम्।।१।।

तं बाहुबलिनं सर्वे जनास्तदनुयायिनः।
दशाननस्य दाहार्थं समारोहे न्यमन्त्रयन्।।२।।

नेता महोदयश्चाऽसौ माफियोपाधिसंयुतः।
पुत्तलिका-प्रदाहार्थं सहर्षं स्वीकृतिं ददौ।।३।।

केनचित् कारणेनाऽथ परन्तु स विधायकः।
जाते बहुविलम्बेऽपि न तत्र समुपागतः।।४।।

विलम्बकारणात् सर्वे क्षुब्धा रोषं समन्विताः।
किं कर्त्तव्यविमूढ़ाश्च जाता आक्रोशसंयुताः।।५।।

परन्तु तद्भयात्तत्र न च कोऽप्यब्रवीत् तदा।
न च रावणदाहार्थं केनाऽपि साहसं कृतम्।।६।।

आयोजकास्तु सर्वेऽपि विमूढ़मतयस्तथा।
किञ्चिदप्यत्र ते कर्त्तुं समर्था न यदाऽभवन्।।७।।

तदानीमेव चाऽकस्मात् कारयाने समाहितः।
नेता स माफियाभूतः सहसा समुपागतः।।८।।

विलम्बागमनस्याऽपि कारणं न जगाद सः।
न च तत्र क्षमायाञ्चा न चा काचिद् विनम्रता।।९।।

आयोजकाऽनुरोधेन स गर्वोन्मत्त-मानसः।
पुत्तलिका-प्रदाहार्थम् आत्मानं समकल्पयत्।।१०।।

तालि-वादनमध्ये स स्वकीये करपङ्कजे।
धनुरुत्थाय दाहार्थ समामध्ये समुद्यतः।।११।।

प्रक्षेप्तुम् अग्निबाणं च संकल्पं कृतवान् यदा।
तदैव जनतामध्ये ध्वनिरेवं श्रुतिं गतः।।१२।।

'आश्चर्यं महद् आश्चर्यं जनाः पश्यन्तु साम्प्रतम्।
दशाननस्य दाहार्थं रावणः स्वयम् आगतः।।१३।।

रायबरेली

महर्षिदयानन्देन प्रतिपादिता शिक्षा वर्तमानकालिकी शिक्षा च

-सौरभार्यः

शिक्षा मानवसमाजस्याभिन्नमङ्गमस्ति एतस्मात्कारणात् मानवनिर्माणस्यापि प्रमुखा घटिका विद्यते। मानवस्य जीवनयात्रायाः आरम्भः शिक्षणेन भवति। शिक्षाजगति प्रबलप्रयत्ने कृतेऽपि मानवस्य पूर्णरूपेण निर्माणविकासौ न सम्भवतः। अतोऽद्यतनीयासु परिस्थितिषु शिक्षा-सम्बन्धिगम्भीरमन्थनस्य आवश्यकता प्रतीयतेऽद्य।

काले काले मनीषिभिः शिक्षा परिभाषिता क्रियते। अत्र महर्षिणा दयानन्देन प्रतिपादितशिक्षायाः स्वरूपमुद्घाटयिष्यामः अनेन सह एव वर्त्तमानकालिकशिक्षायाः स्वरूपमपि। ऋषिः दयानन्दानुसारं शिक्षायाः अर्थः, कन्यानां शिक्षा, विद्यार्थिनां शिक्षकानां च कर्त्तव्यानि, पठनपाठनविधिः, सहशिक्षाया हानिः, आर्ष-शिक्षा, बालकबालिकानां पाठशालानां पृथक्-पृथक् व्यवस्था, शिक्षायाः प्रारम्भिकमूलसिद्धान्ताः मातृपितॄणां कर्त्तव्यानि, वर्त्तमाने शिक्षायाः स्वरूपं चेत्यादिविषयाः लेखेऽस्मिन् प्रकाशिताः भविष्यन्ति।

शिक्षायाः विषये ऋषे दयानन्दस्य मान्यताऽस्ति 'यया विद्यायाः सभ्यतायाः, धर्मात्मतायाः, जितेन्द्रियतायाश्चेत्यादिशुभगुणानां वृद्धिः भवेत् अविद्यादिदोषाणां च शमः जायते' सा शिक्षेत्युच्यते।[१] एतदेव तथ्यं ऋषिः दयानन्दो व्यवहारभानौ स्पष्टं कुर्वन् लिखाति- 'यया मनुष्या विद्यादिशुभगुणान् प्राप्याविद्यादिदोषाश्च त्यक्त्वा सदानन्दिताः स्युः सोच्यते शिक्षा।'

महर्षेः मन्तव्यानुसारं शिक्षा परिष्कारसंस्काराधानयोः प्रथमं साधनं विद्यते। विचारेणानेन महर्षिणा दयानन्देन स्वप्रसिद्धग्रन्थे सत्यार्थ-प्रकाशस्य प्रमुखतया समुल्लासद्वयं शिक्षासम्बद्धं लिखितम्। ययोः द्वयोः समुल्लासयोः शिक्षायाः प्रारम्भिकमूलभूतसिद्धान्तानां वर्णनं कुर्वताऽध्ययनाध्यापनविधेरन्तर्गतशिक्षणालयेभ्यः पाठ्यक्रमस्यापि समायोजना कृता। विषयेऽस्मिन् प्रकाशः अग्रे प्राप्स्यते। शिक्षा मानवनिर्माणस्य प्रमुखं सोपानं विद्यते तथ्यमिदं दृष्टिगतं कुर्वता द्वितीयसमुल्लासस्यारम्भे शतपथब्राह्मणस्य प्रमाणं प्रस्तुवता महर्षिणा लिखितम्- **'मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद'**

समुल्लासेऽस्मिन् वर्णितायाः बालशिक्षायाः उत्तमसरणी गृहस्थानां कृते वरणीयोपादेया चास्ति। इयं मनुष्यनिर्माणस्याधारभूता शिक्षास्ति या मात्रा पित्रा च गृहकुले एव प्रदीयते। तदनन्तरं गुरुकुलेऽध्ययनस्य क्रमः प्रारभ्यते। यस्मिन्नसौ आचार्यस्यान्तेवासी भूत्वा शास्त्रीयज्ञानमधिगतं कुर्वन तदाचरणरूपेण आत्मसात् करोति। विद्याव्रतस्नातकोपाधिं चालङ्कृत्य समावर्तनेन गृहकुलं प्रत्यागच्छति।

शिक्षायाः तात्पर्यं केवलमक्षरज्ञानमेव नास्ति पूर्णशिक्षा सैवास्ति या भौतिकविकासेन सहाचारस्यापि विकासं कारयेत् **'सा शिक्षा या विमुक्तये'** यया सर्वाङ्गीणा समुन्नतिः संजायते सा भवति शिक्षा। ईदृश्याः शिक्षायाः प्राप्तौ सुयोग्यशिक्षकानां महती भूमिका भवति। विदुषः शिक्षकस्य स्वरूपं तस्य कर्त्तव्यानां च बोधः वेदे सविस्तरं प्राप्यते। ऋग्वेदीयप्रमाणेन स्वामिनो लिखन्ति **' स एवास्ति विद्वान् सर्वेषां मङ्गलकारी यः स्वयं धर्ममार्गं गत्वा अन्यान् धर्ममार्गं गन्तॄन् कुर्यात्' (दयानन्दभाष्यः)।**

स्वामिदयानन्दानुसारं विद्वत्शिक्षकस्य कर्त्तव्यं राष्ट्रस्य भाविकर्णधारशिष्येभ्यः विद्यायाश्चरित्रस्य च शिक्षां दत्त्वा तान् सुयोग्यान् कुर्यात्। शिक्षकाः कीदृशाः भवेयुः? विषयेऽस्मिन् स्वामिनो लिखन्ति ये नित्यनूतनविद्याग्रहणस्य इच्छुकाः, ऐश्वर्याभिलाषिणः, जितेन्द्रियाश्चेदृशाः अध्यापकाः एव येऽज्ञानिनामज्ञानं दूरीकृत्य तेभ्यः ज्ञानं ददति ते एव पूजनीयाः भवन्ति। अग्रेऽपि लिखन्ति यो

मेधावी परोपकारी पूर्णपण्डित: तमेव सुयोग्यशिक्षकं ज्ञात्वा शिष्यै: प्रश्नोत्तरविधिना स्वस्यसर्वा: शङ्का: दूरीकर्त्तव्या: किन्तु योऽविद्वान् ईर्ष्यालु: कपटी स्वार्थी च भवेत् तस्मात् दूरे एव भवितव्यम्।

यथा शिक्षकानां छात्रान् प्रति[२] कर्त्तव्यं विद्यते यत् तेभ्य: प्रेम्णा शिक्षां दत्त्वा तान् सुसंस्कृतान् कुर्यु:। तथैव छात्राणामपि शिक्षकान् प्रति कर्त्तव्यमिदमस्ति यन्मनसा सदैव छात्रै: ते शिक्षका: सेवनीया:।

विषयेऽस्मिन् महर्षिणा दयानन्देन येषु महत्त्वपूर्णतथ्येषु ध्यानमाकृष्टं तानि सन्त्येतानि-विद्यार्थिनां कृते उचितमिदं यत्ते विदुषां शिक्षकानां मनसा वाचा कर्मणा वा सत्कारं विधाय सुसंस्कृतान्नादिभि: नित्यं तेषां सेवां कुर्यु:[३]। विद्यार्थिन: विद्याया: सत्योपदेशस्य च प्रदातु: आचार्यस्य श्रेष्ठपुष्कलदक्षिणादिभि: सत्कारं कुर्यु:[४]।

ब्रह्मचर्ये वीर्यनिग्रहं कृत्वा परिमिताहारविहारं कुर्वन्त: आचार्यस्य समीपे गत्वा सेवां च कृत्वा परिमिताहारविहारं कुर्वन् नीरोगी भूत्वा विद्याप्राप्तयेऽधिकाधिकं प्रयत्नशीला: भवेयु: छात्रा:[५]। ते एव विद्यार्थिन: श्रेष्ठा: भवन्ति ये सोत्साहं पठितपाठस्योत्तमपरीक्षां ददति। किन्त्वद्य पठनपाठने गुरुशिष्यपरम्पराया: उदात्तोऽयं क्रमो विलुप्तप्रायो दृश्यते। परिणामत: जीवने शिक्षाया: अवतरणस्यापि अवसानं दृष्टिगतं भवति। शिक्षाया: जीवनेन सह कश्चित् सम्बन्ध: शेषो न विद्यते। नैतिकताया अभावे शिक्षिता अपि अशिक्षिता एव सन्ति। अद्य शिक्षाया: प्रचार: पूर्वापेक्षयाधिकं विद्यते पुनरपि मनुष्य: पशुत्वं प्रति पलायते तर्हि अस्य अयमेवार्थ: यत् वर्तमानशिक्षायां क्वचित् तु त्रुटिरवश्या विद्यते। अद्य विद्यालयेषु केवलं छात्राणां बुद्धे: विकासस्य प्रयत्नो विधीयते तेषामङ्गत्रये आत्मनि शरीरे मनसि च किञ्चिदपि ध्यानं न दीयते। नैतिकताया: धर्मस्य च पाठोऽद्य विद्यालयेषु न पाठ्यते। अस्यैव परिणाम: यद्धोच्चशिक्षासम्पन्नछात्रेषु अपि नैतिकताया: धार्मिकतायाश्चाभावो दृश्यते परं महर्षिदयानन्दस्य मते शिक्षा ईदृशी विद्यते या व्यक्तौ सर्वाङ्गीणविकासेन सहैव तस्मिन् सर्वोत्तमगुणानामाधानं कारयेत्।

विद्यालयेषु महाविद्यालयेषु च त्वद्य चारित्रिकस्तरेऽपि छात्र: पतितो भवति। एतदर्थमेव स्वामिदयानन्देन सहशिक्षाया अपि विरोध: कृत: यतो हि विद्यालयेषु सहशिक्षया हानिरेव भवति। छात्राणां चरित्रपातने सहशिक्षाया: पर्याप्तं योगदानं विद्यते। महाविद्यालयानां विश्वविद्यालयानां च छात्रा: छात्राश्च परस्परं चुम्बनालिङ्गनं कुर्वन्त: सर्वत्र द्रष्टुं शक्यन्ते। स्वामिन: सहशिक्षाया: पक्षे नासन्। विषयेऽस्मिन् ऋषिदयानन्दा: स्वग्रन्थे सत्यार्थप्रकाशे लिखन्ति-बालकबालिकानां पाठशालाया: पारस्परिकदूरी द्वि कोशपरिमिता स्यात्। तत्र च येऽपि अध्यापका: याश्चाध्यापिका: स्यु:, भृत्या: अनुचराश्च स्यु: तत्र कन्यानां पाठशालायां सर्वा: स्त्रिय:, पुरुषाणां पाठशालायां च सर्वे पुरुषा: भवेयु:[६]। ऋग्वेदस्य एकस्य मन्त्रस्य भावार्थे स्वामिनो लिखन्ति-'हे विद्वांसो ये धर्मात्मानो विदुष्य: स्त्रिय: स्युस्ताभि: सर्वा: कन्या: शिक्षयन्तु यत: कार्यनाशो न स्यात् सर्वथा विद्यायुक्ता भूत्वात्युत्तमानि कर्माणि कुर्यु: (दयानन्द भाष्य २.१७.९)।

एकस्मिन्नेव काले एकस्यैव विषयस्य अध्ययने पूर्णसमयं दत्त्वा क्रमशो विषयाणामध्ययनविधि: प्रतिपादिता महर्षिणा दयानन्देन। शिक्षाप्राप्ते: क्रमोऽयं शिक्षां सम्यक् करोति। गुरुगर्भे स्थित्वा प्राप्ता शिक्षा ज्ञानकर्मपरिपाकेन फलवती भवति। ज्ञानकर्मणोरयं महर्षिदयानन्देन स्वग्रन्थेषु शिक्षाया: विभिन्नबिन्दुषु व्यापकं प्रकाशं कुर्वता ऋग्वेदयजुर्वेदयो: भाष्ययोरपि अनेकानां वेदमन्त्रणां शिक्षापरकम् अर्थं कुर्वता शिक्षाविषयकमहत्त्वपूर्णतथ्यानि प्रति ध्यानमाकृष्टं कृतम्। ऋषे: मन्तव्यानुसारं वेदे शिक्षाया उपादेयतानिवार्यता च विद्याप्राप्तेरुपाया: शिक्षकानां योग्यता, समाजे विदुषां सत्कार: शिक्षायां दण्डविधानम् इत्यादीनां विषयाणां समीचीनं स्पष्टीकरणं दृष्टिगतं भवति। महर्षिकृतवेदभाष्यस्य शिक्षाविषयकतथ्यानि

अतिमहत्त्वपूर्णानि सामयिकदृष्ट्या चापि अत्यन्तोपादेयानि सन्ति। शिक्षायाः सुफलं लब्धुमद्यतनीया निर्धारितशिक्षासम्बन्धिनो मापदण्डाः परिवर्तनीयाः सन्ति।

विद्यालयेषु लिखितं भवति यत् शिक्षार्थमागच्छन्तु सेवार्थं च गच्छन्तु किन्त्वद्य छात्रः सेवार्थं समाजे न गच्छति अपितु स्वार्थाय गच्छति। प्रश्नोऽयं विद्यते ईदृश्याः शिक्षायाः को लाभः येन छात्रस्य बौद्धिकं स्तरं तु वर्धते परं मानसिकचारित्रिकाध्यात्मिकदृष्ट्यासौ पतितो भवति। ईदृश्यां शोचनीयावस्थायामाशायाः रश्मिः अस्ति तु केवला सार्षशिक्षैवास्ति। महर्षिणा पठनपाठनविधौ ऋषिकृतग्रन्थानामध्ययनस्य निर्देशः कृतः। सन्दर्भेऽस्मिन् एते आर्षग्रन्थानां लाभमनार्षग्रन्थानां च हानिं दर्शयन्तः लिखन्ति-यत् आर्षग्रन्थानां पठनमीदृशमस्ति। यथा-एकवारं निमज्ज्य बहुमूल्यरत्नानां प्राप्तिरेव।

अद्यत्वे पाश्चात्यशिक्षापद्धतावाधारितविद्यालयेषु प्रचलितदूषितसहशिक्षापद्धतिः सर्वविषयाणां अल्पसमये पठनस्य विधानं च स्वामिना विहितपद्धत्यां नास्ति। अद्यतनीयशिक्षाप्रणाल्यां दण्डविधानमपि समाप्तं दृश्यते, प्रायः अद्य गृहस्थिनो विद्यालये स्वपुत्रपुत्रीणां ताडनादिकस्य विरोधं कुर्वन्ति, शिक्षकोऽपि बिभेति क्वचित् विद्यालयात् तस्य निष्कासनं न स्यात् परं सन्दर्भेऽस्मिन् स्वामिना दयानन्देन उद्धृतं यत्-

'सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः।
लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः।।'[७]

अर्थात् ये मातरः पितरश्च अन्ये गुरवः स्वसन्तानानां शिष्याणां च ताडनं कुर्वन्ति ते स्वपुत्रान् शिष्यान् च स्वहस्तैः अमृतपानं कारयन्ति परं ये तेषां लालनादिकं कुर्वन्ति ते स्वहस्तैः तेभ्यः विषं दत्त्वा तान् नष्टान् भ्रष्टान् च कुर्वन्ति। एवं महर्षिदयानन्दस्य शिक्षाविषये विचारधाराऽत्यन्तसूक्ष्मा मनोवैज्ञानिकी चास्ति। यथायोग्यसन्ततेः निर्माणस्य योजनापि जन्मनः प्राक् गर्भाधानकाले एव कर्त्तव्या। बालकानां हृदये सर्वाधिकप्रभावो मातुः शिक्षाया एव भवति। अतः स्वामिनः पुनः द्वितीयसमुल्लासे कथयन्ति-'बालकेभ्यो मातोत्तमशिक्षां दद्यात्।'

अद्यतनयुगस्य शिक्षायाः समुचितविकल्प आर्षशिक्षा विद्यते यत्र महर्षिप्रणीतग्रन्थानामध्ययनं भवति आधुनिकज्ञानसम्पन्नव्यक्तौ सर्वशुभगुणानामाधानं भवति।

स्वामिदयानन्दस्य शिक्षादर्शनस्य वर्णनमस्मिन् लघुशोघपत्रे न पूर्णतया कर्त्तुं शक्यते। पुनरपि एतद्विवेचनेन इदं तु सिद्धमेव यत् महर्षिदयानन्दः एकस्याः ईदृश्याः शिक्षाप्रणाल्याः पक्षपाती आसीत् यदन्तर्गतशिक्षितसमाजः पूर्णरूपेण सभ्यः, सशक्तः, सुसम्पन्नः आनन्दयुक्तश्च भवेत्। अद्यावश्यकतास्ति या शिक्षा अस्मान् अध्यात्मं चरित्रनिर्माणं देशहितचिन्तनं च शिक्षयेत्। परमाधुनिकशिक्षायामेतेषां गुणानां गवेषणा व्यर्था एवास्ति। अतः शिक्षाया उचितदिशाया चयनमावश्यकमस्ति।

सन्दर्भसूची-

१. सत्यार्थ-प्रकाशः स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशः संख्या-२२-२३।

२. परेहि विग्रमस्तृतमिन्दं पृच्छ विश्चितम्। यस्ते सखिभ्य आ वरम्। ऋग्वेदः-१.४.४।

३. ऋग्वेदः-१.६१.१६।

४. नूनं सा ते प्रति वरं जरित्रे दुहीयादिन्द्र दक्षिणा मघोनी। ऋग्वेदः-२.११.२१।

५. ऋग्वेदः-४.२३.१।

६. सत्यार्थ-प्रकाशः, तृतीयसमुल्लासः।

७. सत्यार्थ-प्रकाशः, द्वितीयसमुल्लासः।

श्याम-प्रसाद-मुखर्जी महाविद्यालयः
देहली विश्वविद्यालयः

दायविभागप्रकरणम्

❑ शिवकुमारार्यः
पौन्धास्थं गुरुकुलम्

याज्ञवल्क्यस्मृतौ व्यवहाराध्याये अष्टादशसु एव विवादेषु दायविभागवादस्तु किञ्चिद् वैशिष्ट्यमेव भजति यतोहि अयं विषयः अद्यापि बहुप्रचलिततराम्। तदत्र को नाम दायः इति सर्वप्रथमं विचार्य्यते, मिताक्षराकारेण तस्य स्वरूपं प्रदशितं तत्र यद् द्रव्यं स्वामीसम्बन्धादेव निमित्तादन्यस्य स्वं भवति तद् धनादिकमुच्यते दायः स च द्विविधः - अप्रतिबन्धः सप्रतिबन्धश्च। यास्काचार्येणापि-विभक्तव्यं पितृद्रव्यं दायमाहुर्मनीषिणः इत्युक्तम्। तत्र पुत्रपौत्राणां पितृपितामहधनं स्वंभवतीति अप्रतिबन्धो दायः, पितृव्य भ्रात्रादीनां तु पुत्राभावे स्वाम्यभावे च स्वं भवतीति सप्रतिबन्धो दायः। विभागश्च मिताक्षराकारेण कथ्यते-द्रव्यसमुदायविषयाणामनेकस्वाम्यानां तदेकदेशव्यवस्थानम्। दायविभागश्च चतुर्धात्र पश्यन्तु - विभाजनकालः, विभाजनसम्पत्तिः, विभाजनविधिः विभाजन अधिकारिणश्च ।

सर्वप्रथमं याज्ञवल्क्यमुनिना विभाजनकालः दर्शितः-

विभागं चेत्पिता कुर्यादिच्छया विभजेत्सुतान्।
ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन सर्वे वा स्युः समांशिनः।।

यदा पिता विभागं चिकीर्षति इच्छया स्वसम्पत्तिं पुत्रेषु विभजेत् सर्वे समांशभागेन विभजेयुः अथवा ज्येष्ठ पुत्राय श्रेष्ठभागं दद्यात्। नारदगौतममुनिभ्यां तु जीवत्यपि पितरि द्रव्यनिः स्पृहे मातरि च निवृत्तरजस्कायां पितुरनिच्छायामपि पुत्रेच्छयैव विभागः उक्तः। अन्यदपि याज्ञवल्क्यमुनिना कालान्तरमुक्तं यद् मातापित्रोः प्रयाणानन्तरं सुताः रिक्थमृणं च समं विभजेरन्। तत्र विभाजनसम्पत्ति रुच्यते याज्ञवल्क्यमुनिना-

भूर्या पितामहोपात्ता निबन्धो द्रव्यमेव वा।
तत्र स्यात्सदृशं स्वाम्यं पितुः पुत्रस्य चैव हि।।

एवं भूः=शालाक्षेत्रादिका निबन्धः=बलिः द्रव्यम्=सुवर्णरजतादिकं च योगीश्वरेण विभाजनसम्पत्तौ मतः। मिताक्षरानुसारं नरः पृथक् सम्पत्तिरपि संस्थापयितुमर्हति या मातृपितृद्रव्यविनाशेन स्वयमेव अध्ययनाध्यापनेन याजनेन वा यल्लब्धं तन्न दायादेषु विभज्यते अतः कुल सम्पत्तेरेव विभाजनं भवति।

साम्प्रतं च कथं विभाजनविधिर्भवति याज्ञवल्क्यमुनिनोच्यते-

विभाजनात् पूर्वं भगिन्यश्च निजादंशाद्दत्वांशं तु तुरीयकम्, भ्रातृभिः स्वस्वभागात् चतुर्थांशं भगिन्यै दत्त्वा सा विवाहसंस्कार्याः असंस्कृता भ्रातरोऽपि विवाहसंस्कृर्तव्या, कुलस्य ऋणानां निवृत्तिरनन्तरं - सर्वस्माद्द्रव्यसमुदायाद् विंशतितमो भागः ज्येष्ठाय देयम्, तदर्धं मध्यमाय तुरीयं च कनिष्ठाय दातव्यम्। तेषां पत्नीनां च याभ्यः स्त्रीधनं न लब्धं तासां विभागे समानमंशं भवेत्। मातुः धनं च तस्य पुत्र्यः विभजेरन् यथोक्तम्-

मातुर्दुहितरः शेषमृणात्ताभ्य ऋतेऽन्वयः।

पितृव्यादीनां च सामान्य धनकृषिवाणिज्यादीनां सम एव विभागः। विभाजनानन्तरं जातः सवर्णः पुत्रोऽपि विभागद्रव्यं भजते। यदि पितुरुर्ध्वं विभागो भवति तत्र मातापि सममशं हरति। यदि विभाजनसमयानन्तरं गूढं धनं दृश्यते तत् समेनांशेन विभज्यते। इदानीं विभाजनाधिकारिणः के सन्तीति याज्ञवल्क्यमुनिना उच्यते-

चतुस्त्रिद्व्येकभागाः स्युर्वर्णशो ब्राह्मणात्मजाः।
क्षत्रजास्त्रिद्व्येकभागा विडजास्तु द्व्येकभागिनः।।

यथा कस्यापि ब्राह्मणस्य चतुर्वर्णसमुद्भूताः पुत्राः सन्ति तर्हि दशभागेषु तस्य सम्पत्तिर्विभज्यते तत्र ब्राह्मणी उद्भूतपुत्रस्यभागचतुष्टयम्, क्षत्रियापुत्रस्य त्रयः भागः वैश्यापुत्रस्य भागद्वयं शुद्रायाश्च पुत्रस्य एकः भागो भवति औरसक्षेत्रजगूढजादिषु द्वादशषु पुत्रेषु मनुना पूर्वषटकस्य दायादाधिकारित्वमुक्तम्। के च नाधिकारिणः-

क्लीबोऽथ पतितस्तज्जः पङ्गुरुन्मत्तको जडः।
अन्धोऽचिकित्स्य रोगाद्याभर्तव्या स्युर्निरंशकाः।।

एषां नपुंसकपतितादीनां दायादे नाधिकारः। एवं याज्ञवल्क्यमुनिना विभाजनस्य समयः, विधिः, सम्पत्तिः- अधिकारिणश्च वर्णिताः।